विपाशा

हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग की द्वैमासिक पत्रिका

आवरण

मुखपृष्ठ : सराहन मंदिर का एक प्राचीन ताम्रपात्र

ऊपर का चित्र : भारत में रूस महोत्सव के अवसर पर शिमला में रूसी कलाकारों के कार्यक्रम

छाया : हाकम शर्मा

विपाशा

साहित्य, संस्कृति एवं कला की द्वैमासिकी
वर्ष-4, अंक - 20, मई - जून, 1988

मुख्य संपादक
श्रीनिवास जोशी
निदेशक, भाषा एवं संस्कृति, हि० प्र०

संपादक
तुलसी रमण

संपर्क : संपादक-विपाशा, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हि० प्र०
त्रिशूल, शिमला-171003 दूरभाष : 3669, 6846, 4614

वार्षिक शुल्क : दस रुपये, एक प्रति : दो रुपये

क्रम

पाठकीय

अंक अठारह

रतन वर्मा (हजारी बाग, बिहार)

विपाशा का एक अंक मित्र यायावर मेरे लिए दिल्ली से लेकर आए थे। देश को सांस्कृतिक आधार पर बांधने वाली यह पत्रिका अच्छी लगी। लेकिन हज़ारीबाग के बुक स्टाल पर इसके अंक उपलब्ध नहीं होते। मैं इसे अपने दोस्तों तक भी पहुंचाना चाहता हूं।

कुलदीप सिंह 'दीप' (अर्जुननगर, नई दिल्ली)

विपाशा का अपनी तरह की पत्रिकाओं में विशेष स्थान बन गया है। यह हिमाचल की प्रकृति की तरह ही सुंदर है। मैंने इसके सभी अंक संभाल रखे हैं। कुछ पुराने अंक मुझे उपलब्ध नहीं हो रहे।

विनोद डोगरा (चड़गांव, जिला शिमला)

अंक 17 में अवतार एनगिल की कहानी 'उड़न दस्ता' पढ़ी। वास्तव में कंडक्टरों की आदत बन गयी है कि पैसे लेते हैं टिकट देते नहीं या बकाया नहीं देते। खास कर दूर-दराज़ के इलाकों में ऐसा होता है। कंडक्टर व उड़न-दस्तों के कर्मचारी आपस में मिले होते हैं। इससे जहां यात्रियों को परेशानी होती है वहीं सरकार को भी वे धोखा देते हैं। कहानी में इस बात को बेपर्दा किया गया है।

आशा शर्मा (मंडी)

विपाशा के अंक 17 में 'हाथ निकले अपने दोनों काम के' रचना अच्छी लगी। इसमें आए शेर खूबसूरत हैं। उभरते हुए नये कलाकारों को भी परिचित कराएं। आवरण के चित्र अच्छे हैं। पत्रिका के स्तर को कायम रखें।

ओंकार खगटा (महाविद्यालय, सरस्वती नगर)

अंक 14 से 18 तक विपाशा को पढ़ा है। यह हिंदी की अच्छी पत्रिका है। अंक 16 में नरेश पंडित की कहानी 'घाल्लू' बहुत अच्छी थी। लाल्टू की कविताएं भी अच्छी लगीं। अब तक देवेन्द्र इस्तर की कहानी 'आर्कीटेक्ट', अलैक्स ला गूमा की अफ्रीकी कहानी तथा अवधेश कुमार की 'बड़ा दिन' कहानी अच्छी रचनाएं हैं। भगवत रावत, अजीत चौधरी व महाराज कृष्ण काव की कविताएं भी पसंद आयीं। सोमदत्त की यात्रा-कथा में रूस के

पुराने नगरों के बारे जानकारी मिली । इन रचनाकारों को विपाशा के नियमित पाठक की ओर से बधाई ।

आदित्य प्रताप (नाहन)

विपाशा को पूरा पढ़ जाता हूं । कुछ कविताओं का स्तर अच्छा होता है किंतु कुछ स्टेटमैंट टाइप होती हैं । लेखों में विचारों का गडमड पाया जाता है । कहानी 'दीनानाथ' भारतीय परिवेश वाले परिवार में पढ़ने योग्य नहीं है । जो कविताएं मम्मट के अनुसार रसोत्पत्ति नहीं करतीं उन्हें न दें । वैसे तो हमारे प्रदेश में साहित्यिक कृतियां बहुत कम उपलब्ध होती हैं क्योंकि जीवन की कठिनाइयां सृजन के लिए बहुत कम समय देती हैं । फिर भी विपाशा जैसी पत्रिका के द्वारा कुछ आशा के द्वार खुले हैं । भारत के रत्न साहित्यकारों को प्रांतीयता का भेदभाव किए बिना विपाशा में स्थान दिया जाना चाहिए । ताकि हम रचना के विकास की चरम-सीमा से परिचित हो सकें । विद्वान देश-काल की सीमा से परे होते हैं । वे मानवता का हित संपादन करते हैं । बुद्धि के लिए नये आयाम खोलते हैं ।
विपाशा में हास्य रस की रचनाएं नहीं आ रही हैं ।

पुनीत गुप्ता (डाक्टर होस्टल, स्नोडन)

विपाशा का एक अंक पढ़ा । अच्छा लगा । लेकिन प्रतीत होता है कि ग्राफिक्स रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए देते हैं । वे अपना अस्तित्व नहीं बना पाते । इस ओर भी ध्यान दें ।

पत्रिका सम्बन्धी विवरण

पत्रिका का नाम : विपाशा
प्रकाशन अवधि : द्वैमासिक
प्रकाशक का नाम : श्रीनिवास जोशी
राष्ट्रीयता : भारतीय
पता : निदेशक, भाषा एवं संस्कृति विभाग हिमाचल प्रदेश, शिमला-171003
संपादक का नाम : तुलसी रमण
राष्ट्रीयता : भारतीय
पता : भाषा एवं संस्कृति विभाग, हिमाचल प्रदेश, शिमला-171003
मुद्रक का नाम : मिश्रीलाल शर्मा
राष्ट्रीयता : भारतीय
पता : शांति मुद्रणालय, गली नं० 11, विश्वासनगर, दिल्ली-110032
स्वामित्व : भाषा एवं संस्कृति विभाग, हिमाचल प्रदेश, शिमला-171003

मैं श्रीनिवास जोशी, निदेशक, भाषा एवं संस्कृति विभाग हि० प्र०, एतत् द्वारा घोषित करता हूं कि उपर्युक्त विवरण मेरी अधिकतम जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य है ।

हस्ताक्षर
(श्रीनिवास जोशी)

संपादकीय

भारतीयता की चिंता

बाल साहित्यकार श्री सन्तराम वत्स्य का गत पच्चीस मार्च को देहान्त हो गया। उनका नाम हिन्दी के प्रमुख बाल साहित्यकारों में आता है। वत्स्य जी ने बच्चों, किशोरों और प्रौढ़ों के लिए लेख, निबंध, कहानी तथा उपन्यास आदि विधाओं में डेढ़ सौ से अधिक पुस्तकें लिखी हैं। इन्होंने विभिन्न क्षेत्रों के ज्ञान-विज्ञान, महापुरुषों के जीवन, रामायण-महाभारत, पौराणिक साहित्य व लोक-साहित्य में निहित ज्ञान का सार इन पुस्तकों में प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त पंजाबी, बंगाली तथा अंग्रेजी की अनेक पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद भी उपलब्ध कराया है। निःसंदेह वत्स्य जी सृजनात्मक लेखक नहीं थे और ऐसा उन्होंने कभी दावा भी नहीं किया। एक निश्चित आयु वर्ग के पाठकों के ज्ञान और मनोविज्ञान के स्तर का विश्लेषण करते हुए उनके लिए सहज ग्राह्य और महत्वपूर्ण साहित्य उपलब्ध कराना ही उनका उद्देश्य रहा और इसमें उन्हें भरपूर सफलता भी मिली है। उनकी पुस्तक मालाओं का बराबर स्वागत हुआ और अनेक सम्मान व पुरस्कार भी मिले।

वत्स्य जी की बराबर यह कोशिश रही कि आने वाली पीढ़ियां भारतीय संस्कृति और दर्शन का सार-तत्व बाल-साहित्य में ही ग्रहण कर लें। पाश्चात्य संस्कृति के प्रति अतिरिक्त ललक के कारण समूची भारतीयता का जो ह्रास हो रहा है इसके प्रति वत्स्य जी की चिंता बराबर बनी रही। सोच और आचार-व्यवहार के स्तर पर उनका जीवन एक भारतीय का जीवन रहा। एक सच्चे और खरे व्यक्तित्व के रहते भी उनकी अपनी सीमाएं थीं लेकिन वह संकुचित भी नहीं रहे। भारतीयता की धारणा के पीछे वत्स्य जी की दृढ़ता उनकी पहचान थी।

भाषा के मामले में वत्स्य जी विशुद्ध हिन्दी के पक्षधर रहे। बाल-साहित्य के अतिरिक्त भी उन्होंने जो लेख व निबंध आदि लिखे हैं उनमें भी

इनकी हिन्दी न तो ठेठ संस्कृत निष्ठ है और न ही आंचलिकता के प्रति अतिरिक्त मोह दिखाई देता है। निश्चित आयुवर्ग के लिए लिखने में उनकी सफलता का रहस्य उनकी बहुत सुथरी भाषा और स्वस्थ मनोविज्ञान में ही निहित है। इस स्तर पर उनका लेखक सर्जक न होते हुए भी एक सफल वैज्ञानिक की तरह पेश आता है।

राष्ट्रीय स्तर की गतिविधियों के अतिरिक्त हर प्रदेश का अपना सांस्कृतिक परिवेश होता है, जिसमें अनेक कला-विधाओं से जुड़े विभिन्न पीढ़ियों के संस्कृति कर्मियों का योगदान रहता है। वत्स्य जी ने जीवन का अधिकांश समय दिल्ली में व्यतीत किया लेकिन हिमाचल की गतिविधियों से वह बराबर जुड़े रहे। प्रदेश की सीमाओं से बाहर की दुनिया को भरपूर देखने-जीने के बावजूद वह हिमाचल में फिर-फिर लौट आते रहे। वत्स्य जी के अचानक निधन से हमने एक स्वस्थ बुजुर्ग को खो दिया है। मृत्यु से कुछ दिन पूर्व ही भेजा गया 'नटराज' विषयक उनका लेख और एक संस्मरण लेख श्रद्धा स्मरण के साथ इस अंक में जा रहा है।

बाबू गुलाबराय और रेणु के कृतित्व पर आधारित दो लेखों के साथ डॉ० देवराज का 'साहित्य और प्रगतिवाद' विषयक लेख भी इसमें शामिल है। दर्शन और साहित्य के विद्वान डॉ० देवराज ने इस छोटे से लेख में साहित्य और प्रगतिशीलता को लेकर जो कुछ व्यक्त किया है इस पर सहमति और असहमति के दोनों पक्षों की प्रतिक्रिया संभव है। इसलिए इसे बहस-तलब लेख के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

नियमित रचनाओं के रूप में कहानियों और कविताओं के साथ 'देशांतर' में इस बार दो बल्गारी कवियों की रचनाएं हैं। कलाकार सोभा-सिंह पर डॉ० अग्रवाल का विस्तृत लेख जानकारी पूर्ण है और 'लोक संस्कृति' में 'विषुव-विशु-बसोआ' पर डॉ० विद्याचंद ठाकुर ने शोधपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है। इसी के साथ कुछ पुस्तकों की समीक्षाएं और साहित्यिक गति-विधियों में 'त्रिलोचन सम्मान' और हिमाचल अकादमी का 'पुरस्कार समारोह' प्रमुख हैं।

बाबू गुलाब राय : हिन्दी गद्य में कविता के स्वर

□ सत्येन्द्र शर्मा

काव्य-संरचना की शिल्पगत शर्त को अनदेखा कर काव्यात्मा-वस्तु तत्त्व के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी के जिन कुछ गद्यकारों में कविता का स्वर ध्वनित सुनाई पड़ता है, उनमें गुलाबराय जी का नाम प्रमुख है। किसी निबंधकार में कविता की ध्वनि सुनना गैर मौजू और तर्कहीन प्रयास लग सकता है, इसलिए यहां यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि ऐसा इसलिए नहीं किया गया कि कविता के प्रति समीक्षक का नज़रिया अधिक प्रीतिकर है, और न ही यह कि गद्य मेरे तई मावव संवेदन और सम्प्रेषण का कविता से कम शक्तिशाली माध्यम है, फिर भी यदि किसी लेखक के निबन्ध समुच्चय से गुजरते हुए निरन्तर कविता की-सी रिद्म-भाषा में नहीं वस्तु में संचरित हो तब उसका आकलन करते हुए उसमें मुखर कवित्व को उकेरना एक जरूरी, युक्ति-संगत समीक्षा दायित्व है।

आचार्य शुक्ल ने अपनी पैनी समीक्षा दृष्टि में गुलाबराय का उल्लेख[1] ऐसे निबन्ध लेखकों में किया है, जिनके यहां उन्हें 'भाषा की नई गतिविधि' और 'आधुनिक विचारधारा से उद्दीप्त नूतन भावभंगी के दर्शन होते हैं।' स्मरण रखना होगा कि श्री शुक्ल जब यह टिप्पणी कर रहे थे तब तक गुलाबराय का अल्प निबन्ध साहित्य ही प्रकाश में आया था। आचार्य शुक्ल ने उनकी 'फिर निराशा क्यों' नामक पुस्तक भर का जिक्र किया है। इसके बावजूद एक विशेष सन्दर्भ जिसके लिए श्री शुक्ल उन्हें 'विरले लेखकों में' मानते हैं, वह है, उनकी 'चुस्त भाषा के भीतर एक पूरी अर्थ परम्परा' के कसाव का निर्वाह।

गुलाबराय के निबन्धों के प्रतिपाद्य पर संक्षेपतः विचार करते हुए 'एक पूरी अर्थ परंपरा' के पदबन्ध का आशय विचारना औचित्यपूर्ण होगा, साथ ही ऐसा करते हुए हम प्रकारान्तर से इस आलेख शीर्षक के निहितार्थ का भी खुलासा कर रहे होंगे।

महावीर प्रसाद द्विवेदी जिन लेखकों का समूह लेकर 'सरस्वती' के ज़रिए हिन्दी समाज में नवजागरण का सन्देश दे रहे थे उसका स्रोत जातीय संस्कार और भारतीय दर्शन में अनुस्यूत मिलता है। प्रबल नैतिक आग्रह, सदाशयता, विश्व-बन्धुत्व, सदाचार, सामंजस्य, औदार्य, सहिष्णुता, स्वातंत्र्य, राष्ट्रीय स्वाभिमान, विश्वशान्ति, सर्वे भवन्तु सुखिनः, धर्म संवलित राजनीति, आस्तिकता और सबसे ऊपर मनुष्यता का उद्घोष आदि बिन्दुओं से तात्कालित साहित्य अनुप्राणित है। गुलाबराय समेत द्विवेदी कालीन गद्य साहित्य इन मंत्रों की विशद और सहज व्याख्या है। आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि अन्य कवियों सहित उस युग की जनचेतना के के प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त की कविता में भी यही स्वर प्रमुखता से विद्यमान हैं।

गुलाबराय द्विवेदी कालीन उत्तरांश के ऐसे विशिष्ट कृतिकार हैं, जिन्होंने व्यक्ति, समाज, राजनीति, धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान, चिकित्सा शास्त्र और साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त कथित रूप से 'कुछ उथले' विषयों पर भी लेखनी चलाई है जिसमें भारतेन्दु कालीन समृद्ध हास्य-व्यंग्य धारा वैदग्ध्य से पुष्ट और परिमार्जित होकर उसके अर्न्तवर्ती स्वर को एक नया आयाम देती है।

'कुछ गहरे' नाम से संग्रहीत निबन्धों में गुलाबराय की विचारणा स्पष्टत: सामने आती है। यह विचारणा जैसा कि स्वयं लेखक का कथन है इतनी 'भारी भरकम' और 'इतनी बोझिल' नहीं है कि उनसे कोई दब जाय।[2] बल्कि शैली की सजीवता और लालित्य तथा कथ्य में अर्थ की परम्परागत अनुगूंज के कारण वे कविता से सरस और आत्मीय संदेश देते लगते हैं।

युद्ध एक ज्वलन्त विभीषिका है, जिससे विश्व समाज संतप्त है। जो राष्ट्र द्वितीय विश्व युद्ध की आग में जलने से बच गए वे अब निरन्तर पड़ोसी राष्ट्रों से या तो युद्ध सन्नद्ध हैं, या फिर प्रतिपल परस्पर आशंकित और आतंकित हैं। इस सन्दर्भ में दोनों महाशक्तियों के सत्ता प्रभुओं की अनेक भेंट वार्ताएं निष्फल होती रही है। युद्ध का यक्ष प्रश्न लेखकों की चिन्ता का एक प्रमुख बायस रहा है। गुलाबराय ने युद्ध के कारणों का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक और आर्थिक बिन्दुओं पर एक समाज शास्त्री की तरह किया है। उनका मन्तव्य है कि युद्ध का कारण जाति-संस्कृति, राष्ट्र और धर्म आदि की स्व-श्रेष्ठता का भाव हो और चाहे विशुद्ध आर्थिक जिसका रूप साम्राज्यवाद या उपनिवेश के रूप में दिखाई पड़ता है, 'वैदिकी हिंसा हिन्सा न भवति' की तर्ज पर मानव हत्या के आरोप से नहीं बचा सकता। हम चाहे जिस विचारधारा के पोषक हों गुलाबराय की इस चिन्ता से बेखबर नहीं हो सकते, जिसकी अभिव्यक्ति लगभग कविता के प्रतिरूप में हैं : 'मानव ने मानव का गौरव नहीं पहचाना है। उसका मानसिक क्षितिज पर्याप्त रूप से विस्तृत नहीं हुआ है। वह अब भी जाति-पांति और राष्ट्रीयता की संकुचित घरेलू दीवालों से घिरा हुआ है।[3] इस काव्यात्मक उक्ति के बाद वे एक निबन्धकार की भांति विश्व मानस को युद्ध के खिलाफ प्रेरित करने के निमित्त साहित्य की भूमिका को उपयोगी मानते हैं : 'हमको ऐसा सत्साहित्य उत्पन्न करना चाहिए, जिससे मनुष्य का मूल्य समझा जा सके उसे गाजर-मूली की भांति काटे जाने की वस्तु न समझा जाए।[4]

यहां एक धारणा यह बनती है कि युद्ध जैसे गंभीर मसले को लेकर लेखक का दृष्टिकोण सपाट भावुकता का है, सो बात नहीं। वे यह बेखूबी जानते हैं कि 'युद्ध का खतरा बिलकुल मिटाया नहीं जा सकता किन्तु उसको कम किया जा सकता है और युद्ध कम घातक बनाए जा सकते है।'[5] लेकिन उनके निबंधों में जो बात सपाट भावुकता-सी लगती है, वह एक लेखक की निजी अपील है। एक आत्मीय स्वर है जिसमें कविता की रागात्मकता विद्यमान है।

गुलाबराय के लेखन में कहीं भी पांडित्य प्रदर्शन और लेख कौशल का प्रयोग जातीय अस्मिता या दर्शन को श्रेष्ठ ठहराने में नहीं हुआ। वे राजनीति, विज्ञान, धर्म, दर्शन व्यापार जगत और समाज आदि किसी भी क्षेत्र में व्यवस्था को सार्थकता प्रदान करने के लिए एक ही मापदण्ड को अनिवार्य ठहराते हैं। आचरण का दोहरापन श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ मानवीय व्यवस्था को पंगु और विद्रूप बना देता है। वैयक्तिक जीवन में इस विसंगति के उदाहरण आम मिलेंगे, पर यदि सार्वजनिक जीवन में पड़ने वाले प्रभाव को संकेतित करना जरूरी हो तो स्टालिन कालीन रूस, धर्म के आधार पाकिस्तान का निर्माण और बांगलादेश की त्रासदी और अपनी सीनेट के सामने

एकाधिक बार तथ्यों को छुपाता हुआ रंगे हाथ पकड़ा गया व्हाइट हाउस इस दोहरे आचरण के बड़े उदाहरण हैं । 'मानवता के आधार स्तंभों' को विश्लेषित करते हुए गुलाबराय लिखते हैं—'हमको बेचने और खरीदने के बांट एक से रखने चाहिए । जिस मानदण्ड से हम विदेशियों से न्याय की अपेक्षा रखते थे, उसी मानदण्ड से हमको हरिजनों और अन्य शोषित वर्गों के साथ न्याय करना' आना चाहिए । वे अपने मार्मिक कथ्य में 'आत्मौपम्य' दृष्टि की मीमांसा करते नज़र आते हैं आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योर्ज्जुन ।

गुलाबराय के अनेक कथन हमारी काव्य-परंपरा के ही हिस्से हैं । एक स्थल पर वे कहते हैं 'जैसा आचरण श्रेष्ठ जनों का होता है, वैसा ही साधारण लोगों का होता है । नेता को अपने उपदेश का पालन आप ही करना पड़ता है । यह नहीं हो सकता कि बांवी में तू हाथ डाल और मैं मंत्र पढ़ूं ।'[7] गांधी ने राजनीति के घोड़े में धर्मनीति के अंकुश से सवारी की । वह धर्म-नीति ही थी जिसके कारण उनके वैयक्तिक और सामाजिक आचरण में कोई द्वैत न था । गुलाबराय का निबंध-साहित्य इस धर्मनीति का ध्वजवाहक है । स्मरण रहे कि उनके लिए धर्म का अभिप्राय सामाजिक और नैतिक मूल्यों से है, किसी अमूर्त संस्थान या कठमुल्लई अनुष्ठान से नहीं । इसलिए ऐसे कथन उनकी निजी विचारणा से मिलकर नये संदर्भों में नई अर्थ-दीप्ति भरते हैं ।

आचार्य शुक्ल कविता की पहचान कराते हुए लिखते हैं 'कविता हमारे मनोभावों को उच्छ्वसित करके हमारे जीवन में एक नया जीव डाल देती है । हम सृष्टि के सौंदर्य को देखकर मोहित होने लगते हैं ।' गुलाबराय के निबंधों में विचार पक्ष की सबलता और तार्किक प्रखरता के बावजूद हमारे मनोभावों को उच्छ्वसित करने की ऐसी शक्ति है जो कविता में भावोद्वेलन की आवश्यक शर्त है । अन्य अनेक निबंधकारों में भाषा का यह कौशल, तार्किकता मिल सकती है, मिलती है, किंतु गुलाबराय के यहां वैचारिक सबलता का स्रोत भारतीय दार्शनिक पृष्ठ-भूमि में विन्यस्त है, इसलिए वे हमारे मनोभावों के दरवाज़े पर अधिक आत्मीयता से दस्तक देते हैं और हमें उस पड़ाव तक ले जाते हैं जहां व्यक्ति आत्म-विश्लेषण कर स्वतः को खंगालने पर मजबूर पाता है । उनका लेखन मात्र विवेचन नहीं करता वह कविता की तरह 'कार्य में प्रवृत्ति बढ़ने' की प्रेरणा भी बनता है ।

गुलाबराय के लेखे जीवन से निरपेक्ष कुछ भी नहीं है । कला और साहित्य भी जीवन को नकार कर घन चक्कर ही सिद्ध होंगे । वे साफ स्वरों में कहते हैं 'साहित्य मुखरित जीवन है । जीवन की आवश्यकताओं को भूलकर हम साहित्य का चिंतन नहीं कर सकते ।'[9] वे साहित्य को विषमतायुक्त समाज के बीच चुनौती की भूमिका स्वीकार कर कर्तव्य करने वाले रथी के रूप में देखते हैं । वे उसे जीवन में सौंदर्य विधान का हेतु मानते हैं, जो जीवन में श्रद्धा की प्रतिष्ठा करता है । उनके शब्दों में जीवन के प्रति श्रद्धा बढ़ाकर ही हम युद्ध में एटम बम्ब का प्रयोग करने वालों को कुछ शिक्षा दे सकते हैं ।'[10] स्पष्ट है कि गुलाबराय जीवन की कुंठा को उकेरते, यथार्थ के नाम पर मानव समाज की अधोगति का निराशापूर्ण चित्र खींचते और वायवीय मूल्यों की बात करते साहित्य पर एक प्रश्न चिह्न लगाते हैं ।

गुलाबराय की मान्यता है कि अन्याय और शोषण के खिलाफ साहित्य को प्रतिबद्ध होना होगा । इसके लिए साहित्य की उपयोगिता असंदिग्ध है । आर्थिक उन्नति और मानव उत्थान' शीर्षक निबन्ध में उनकी यह चिंतना अभिव्यक्ति पाती है : 'पीड़ाओं, यातनाओं और

असमानताओं के रहते हुए सुखी लोग भी सुखी नहीं रह सकते। सुखी का सुख, वह चाहे जितना भी निर्भय हो दुखित वातावरण में 'नीरस बन जाता है।''[11] और मार्क्स की बात यह कि सुखी समाज में ही व्यक्ति का पूर्ण विकास हो सकता है। अमेरिका का पूंजीवादी समाज हो, चाहे दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार और चाहे भारतीय समाज का गहरा आर्थिक वैषम्य, पूंजी और शक्ति सम्पन्न इकाईयां भी तब तक सुखी नहीं रह सकतीं जब तक अन्याय व शोषण की शिकार कोई भी इकाई वर्तमान है।

निष्कर्षत: गुलाबराय का निबंध साहित्य जिस अन्तर्धारा से अनुप्राणित और अंतर्सिक्त है, वह है मनुष्यता का उद्‌घोष। समाज की अंतिम इकाई को सर्वांगीण विकास के अवसर सुलभ हों। मानव अपनी संपूर्ण ऊर्जा परस्पर सहयोग से एक उदात्त संस्कृति के रचने में लगाए। वर्ग वैषम्य की खाई पाटने और समरसता की मंजिल तय करने के लिए हिंसा रहित मार्ग तलाशें। उनकी यह विचारणा दिवा-स्वप्न है या कि नैतिक और सामाजिक मूल्यों से प्रतिबद्ध दृढ़ इच्छाशक्ति वाली व्यवस्था के लिए ऐसे समाज की संरचना सहज संभव है, यह विवाद का विषय हो सकता है, किंतु इस बिंदू पर कोई विरोध नहीं हो सकता जहां वे साहित्य का उद्देश्य मानव मन का परिष्कार कर संसार के संघर्ष को कम करना बतलाते हैं। इसीलिए उनकी दृष्टि में काव्य की आत्मा उसका वस्तु तत्व है। वस्तु तत्व, जिसका 'स्रोत जीवन का विशाल और गतिशील निर्झर होगा। जहां (सत्साहित्य को) मानवता के दर्शन होंगे, उसकी वह उपासना करेगा।'[12] वही काव्य की आत्मा रस है।

अपने लेखन का उद्देश्य प्रकट करते हुए गुलाबराय कहते हैं: 'इन निबंधों के द्वारा संसार के संघर्ष को कम कर तथा शांति और साम्य की भावना के प्रसार का भी टिटहरी प्रयत्न किया है।' हालांकि वे जानते हैं कि 'चूहे की खाल से दमामा नहीं मढ़ा जाता और दो चार लेखों से जन प्रवृति में सहज अंतर नहीं पड़ता।'[13] किंतु उनके गद्य में काव्य रस की प्रतिष्ठा की चिंता उन्हें हमारी 'अर्थ-परंपरा' का संवाहक बनाती है। किसी भी राष्ट्र, जाति और संस्कृति की अर्थ-परंपरा-विशेषकर भारतीय संदर्भ में—जितनी कविता में सुरक्षित है उतनी गद्य साहित्य में नहीं। शुक्ल जी कहते हैं : 'कविता से मनुष्य भाव की रक्षा होती है।' गुलाबराय यह कार्य गद्य में कर सके यह बड़ी बात है।

[श्यामायन, सहकार मार्ग, सतना-485001 (म० प्र०)]

संदर्भ संकेत :

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 50
2. गुलाबराय, कुछ उथले, कुछ गहरे, पृष्ठ 1
3. गुलाबराय, वही, पृष्ठ 60
4. गुलाबराय, वही, पृष्ठ 75
5. गुलाबराय, वही, पृष्ठ 66
6. गुलाबराय, वही, पृष्ठ 78
7. गुलाबराय, वही पृष्ठ 177
8. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि-3, पृष्ठ 91
9. गुलाबराय, वही, पृष्ठ 159
10. गुलाबराय, वही, पृष्ठ 153
11. गुलाबराय, वही, पृष्ठ 204
12. गुलाबराय, वही, पृष्ठ 164
13. गुलाबराय, वही, पृष्ठ 2

रेणु और लोक जीवन

□ अमरेंद्र मिश्र

मेरे गांव के लोग, परिवार के लोग एक पेड़ को पूजते थे। गांव का प्रत्येक बच्चा उस पेड़ देवता की कृपा से जीता था, उसके कोप से मरता था ···

इतने दिनों तक राजी-खुशी से जीने के बाद अपने मुंह अपनी जीवन-यात्रा की कहानी कहने के पहले अपने बट बाबा का मैं सुमिरन करता हूं।···

गांव के उत्तर सड़क के किनारे पल्लवित घनश्याम शाखाओं को आकाश में छत्राकार ताने जटाजूट लटकाए उस योगी वृक्ष को सबसे पहले नमस्कार।

सारे गांव के लोग गांव से बाहर जाते और लौटते समय कोई नया काम शुरू करने के पहले, इस पेड़ को शीश नवाकर दण्डवत करना नहीं भूलते थे।

रेणु ने अपने लेख 'बट बाबा' में उपरोक्त पंक्तियां लिखी हैं जो पटना के 'ज्योतसना' के जनवरी' 73 अंक में प्रकाशित हुआ था। रेणु जी मूलतः गांव के थे। गांव से बाहर होने पर भी गांव उन्हें बांधे रहा। खासकर फसल के दिनों में तो ऐसा लगता था, मानों गांव उन्हें जोर देकर पुकार रहा हो। गांव से वे संवेदना के स्तर पर जुड़े हुए थे। रेणु के प्रख्यात उपन्यास 'मैला आंचल' का प्रशांत मलेरिया की जड़ खोजने गांव जाता है और वहां पहुंचने पर उसे पता चलता है कि गरीबी और जहालत—इस रोग के दो कीटाणु हैं—इन दोनों को रेणु ने अत्यंत निकटता से देखा था। स्व० जयप्रकाश नारायण ने मुशहरी से चिट्ठी लिखी कि 'मैला आंचल' आज भी मैला है, बल्कि पहले से ज्यादा मैला हो गया है और आप जैसा लेखक चुप है।' जवाब में रेणु कहते हैं मुझे बड़ी हंसी आई। ये आज मुशहरी गए हैं तो गांव की हालत देख रहे हैं। मैं वहां जन्मा हूं, भोग रहा हूं सब कुछ। हंसी आई थी लेकिन एक भरोसा भी हुआ कि कम-से-कम भूमिहीनों की अवस्था को इन्होंने गांव में पालथी लगाकर देखा तो है। ('रविवार' 28 अगस्त 1977 पृ०13 से) रेणु हिंदुस्तान के कर्णधारों को गांवों में ले जाना चाहते थे।

इसमें संदेह नहीं कि रेणु का अधिकांश लेखन एक खास अंचल से संबद्ध रहा है। उस अंचल को, उसके निजी व्यक्तित्व के साथ, व्यक्तित्व की सारी विशिष्टताओं के साथ उसकी बोली, त्यौहार, उत्सव, समारोह, लोकगीत, लोकपर्व और समूचे परिवेश के एक-एक ब्यौरे के साथ उन्होंने उभारा है। परंतु उनकी सर्जना की शक्ति उस ग्राम को भारत के ग्रामांचल की सार्वजनिकता देती है। अपने लेखन के इस पक्ष में जहां वे अपने अंचल के सामान्य जन की वेदना के प्रति अत्यंत संवेदनशील हैं वहीं उनकी जिंदगी के कुरूप और वीभत्स पक्षों का भी निर्ममता-

पूर्वक साक्षात्कार करते दिखते हैं। आंचलिक चित्रण के क्रम में उनके द्वारा चित्रित गंवई ज़िंदगी पर चढ़ी इन विशिष्टताओं को अलगाने पर पूर्णिया जिले के सामान्य जन और सहज जीवन की जो धरती उभरती है वह हिन्दुस्तान के दूसरे अंचलों के गंवई जीवन से भिन्न ही नहीं, पूरक भी है।

उत्तर भारत के, और विशेषकर हिंदी भाषी प्रदेशों के गांव सामंतवादी जड़ता से ग्रस्त रहे हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अहिंदी भाषी प्रदेशों के गांव जिस अनुपात में आगे आये हैं, अपनी सामंतवादी जड़ता के कारण हिंदी भाषी गांव परिवर्तन की उस लहर को आत्मसात नहीं कर पाए। ग्रामीणों की भाग्यवादिता और दोगली राजनीति की निहित स्वार्थपरता ने यथा-स्थिति को तोड़ने में खतरे महसूस किए। इन प्रदेशों के औद्योगिक पिछड़ेपन के पीछे भी इन्हीं शक्तियों का हाथ है क्योंकि गांव की नयी रोशनी से आलोकित होते ही बागडोर इनके हाथ से निकल जाने का खतरा था। फणीश्वरनाथ रेणु ने व्यवस्था और सामंतवादी संरचना की इस गहरी साजिश को बहुत पहले ही पहचान लिया था अतः उन्होंने अपने उपन्यासों और विशेषतः 'मैला आंचल' में निहित स्वार्थों की इस टकराहट पर गहरी चोट की।

रेणु का लोक जीवन प्रकृति से संबद्ध है। वास्तव में जीवन सौंदर्य ही संस्कृति है जो कृषि क्षेत्र ग्रामांचल में स्पष्ट ही दो भागों में विभक्त है। एक का संबंध व्यक्ति और उसके समाज से है जो आज की संक्रांतिकालीन स्थिति में धूमिल और दिशाहीन हो गया है तथा दूसरे का संबंध कृषि क्षेत्रों की प्राकृतिक सुषमा से है जिस पर देश-काल का कोई प्रभाव नहीं है, जो अपने अक्षय—नैसर्गिक कंचन विलास में अखंड सनातन सत्य सी गांव में विराजमान उसकी सारी उदासी और मलिनता को एक स्तर पर उत्फुल्ल मुक्ताभा में रंगती रहती है। यदि इसे ही गांव की वास्तविक संस्कृति के रूप में रेखांकित किया जाए तो असंगत नहीं होगा।

रेणु का लोक जीवन प्रकृति से संबद्ध है। प्रकृति जो हमें अन्न, जल, वस्त्र और भवन-सामग्री प्रदान करती है।

"1948 साल के अप्रैल की एक सुबह। इस इलाके में अखतिया पटुआ-भदै बोने वाले किसानों को चाहिए कि सूरज उगने से पहले ही खेत को चार चास कर दें। भुरूकुवा तारा जगमग कर रहा है। कमला नदी के गड्ढ़े में उसकी छाया तिलमिला रही है। लगता है नील-कमल खिला है।

कंधे पर हल-बैल लिए मरियल बैलों को हांकता हुआ जा रहा है बिरंची···कोचरी टोला के सोवरन का तीन बीघा खेत मन कुत्ता पर जोतना है मगर इस साल टोटा पड़ेगा। उसकी सूरत दियासलाई की डिबिया में जैसे हलवाहे की छायी रहती है—एकदम दुबला-पतला, काला-कलूटा, कमर में बिस्ठी वैसी ही है।

खेलावन अब खुद ही भैंस चराता है तीन बजे रात में भैंस जैसा चरती है वह दिन-भर में नहीं चरेगी। अब तो उसका अपना रमान (चारागाह) नहीं है। इसीलिए धत्ता की ओर ले जाता है। खेलावन यादव टोली का मड़र भैंस चराकर लौट रहा है। आसमान साफ हो रहा है। सबके चेहरों पर सुबह का प्रकाश पड़ता है—झमाई हुई ईंट जैसे चेहरे।

(रेणु 'मैला आंचल' पृ० 424-25)

लोक जीवन को प्रभावित करने वाली फसल की महिमा पर रेणु अपने दूसरे उपन्यास 'परती परिकथा' में विचार करते नज़र आते हैं—"जब से नयी जाति का पाट चन्नी पाट का

प्रचलन हुआ है, दुलारी राय की जमीन को लोग हीरे की खान समझते हैं।···कभी-कभी नई किस्म की खेती ने भी जन-जीवन को आलोकित किया है। नील की खेती का नाम सुनते ही बूढ़े—पुराने लोगों का मुंह अब भी नीला हो जाता है। और, सोना बंग पाट की चर्चा होती है तब सभी के चेहरे चमचमा उठते हैं—सोन बंग पाट के रेशमी रेशे की तरह।···पहली जरमनिया लड़ाई के समय पहले-पहल आया था यह पाट, ढाका की ओर से। एक ही बार बहुत से गांवों में कोरोगेटिड टीन के मकान भुलमलाने लगे। और पिछले साल से चन्नीपाट धूम मचा रहा है।' (परती परिकथा, पृ० 455)

रेणु के उपन्यासों में जगह-जगह लोक जीवन को प्रभावित करने वाले तत्वों में वस्त्र और जल का उल्लेख आया है। कपड़े के बिना सारे गांव के लोग अर्द्ध नग्न हैं। मर्दों ने पैंट पहनना शुरू कर दिया है और औरतें आंगन में काम करते समय एक कपड़ा कमर में लपेटकर काम चला लेती हैं। बारह वर्ष तक के बच्चे तो नंगे ही रहते हैं। गांवों में बेरोजगारी व्यापक स्तर पर व्याप्त है। इसी का परिणाम है कि ग्रामीणों को विभिन्न स्तरों पर विविध प्रकार की यातनाएं सहनी पड़ती हैं। गांव के समृद्ध लोग ग्रामीणों की सहायता करने के स्थान पर उनका शोषण करते नज़र आते हैं—

"मुसम्मात सुबरी !
टकका कटपीस—एक गज
छींट—डेढ़ गज
साड़ी—एक नग।

बालदेव जी कपड़े की पुर्जी बांट रहे हैं। रौतहट टीशन के हंसराज बच्छराज मारवाड़ी के यहां कपड़ा मिलेगा।

खेलावन यादव के दरवाजे पर खड़े होने की भी जगह नहीं। सुबह से ही पुर्जी बांट रहे हैं, दोपहर हो गयी।···साड़ी नहीं है।···नहीं?···बालदेव जी ! हमको एक साड़ी···रौफा की माए एकदम नगन हो गयी है बालदेव जी !

बालदेव जी कहते हैं, "देखिये ! मौज भर में सिरफ सात साड़ियां दी गयी थीं। चार फर्दी हैं, वह तो मालिक लोगों के घरों में पहनने की चीज़ है—चौदह रुपये जोड़ी। बाकी तीन साड़ियों को हमने इस तरह बांट दिया है, ऐसे लोगों को दिया है जो एकदम बेपरदे···"

(मैला आंचल, पृ० 90)

जल : प्राकृतिक सुषमा का वर्णन करते समय रेणु प्रायः अपने उपन्यासों में बारिश का चित्रण करते चलते हैं। लोक जीवन में प्रकृति का महत्व है। इस महत्व को रेणु ने जाना समझा है और इसका भरपूर उपयोग किया है। एक अस्वाभाविक बारिश का चित्रण द्रष्टव्य है :

"मां—ओ—गो बाबा—आ आ !!
···गड़गड़ गुड़म—गुड़म !
···कड़कड़ गुड़म-गुड़म"

'परती परिकथा' की इन पंक्तियों में स्वाभाविक बारिश का चित्रण द्रष्टव्य है :

"सैकड़ों वर्षों से पड़ी हुई धरती !

ट्रेक्टर का फाल धरती उधेड़ रहा है—भट-भट-भट-भट ! दूब की जड़ों के झब्बे, बन लहसुन के उजले-उजले बल्ब लहसुन की तरह।··· बन लहसुन, लिली जाति का एक जंगली पौधा, जिसके

फूलने का मौसम है अभी ! फैली हुई हरियाली पर तितलियों जैसे सफेद फूल यहां-वहां...।

झर-झर-झहर-झहर-झर-र-र। गड़गड़ गुडुम। बादल दूर थे किंतु हवा तेज थी। मूसलाधार वृष्टि शुरू हुई। अब दूर तक दृष्टि नहीं जाती है परती पर। धीरे-धीरे चतुर्दिक एक सफेद पर्दा छा जाता है। .. गांव-घर की वर्षा और परती की वर्षा में अंतर है। धरती और आकाश का सीधा संबंध।" (परती परिकथा)

लोक जीवन और वर्तमान राजनैतिक प्रणालियों के बीच तनाव

लोक जीवन की पारंपरिक धारा तनावहीन तथा शांति का अनुबोध देती है। इसकी तुलना में वर्तमान जीवन अधिक जटिल और अराजक प्रतीत होता है। यदि इसके कारणों की पड़ताल की जाए तो हम पाएंगे कि तनाव के मूल में वे द्वंद्व हैं जिन्हें राजनीति के हस्तक्षेप के रूप में यही संज्ञा दी जा सकती है कि यह कोई 'विजातीय तत्त्व' है। विजातीय तत्व अर्थात् हमारी पारंपरिक आचरण चर्चा से बाहर की कोई स्थिति।

रेणु का रचना-संसार सन् 1942 की पृष्ठभूमि पर निर्मित होता है। नयी पीढ़ी का गर्म खून जयप्रकाश की बुलंदी लेकर इस आंदोलन के शिखर पर पहुंच गया और स्वतंत्रता के दो-तीन वर्षों की ही आपाधापी में वह एक आयाम देकर दिशा-परिवर्तन कर गया। आदर्श और यथार्थ के द्वंद्व ने रेणु को गहराई तक झकझोरा और आम आदमी का अकेलापन बढ़ा। 'परती परिकथा' का जितेंद्र यह अनुभव करता है कि न सिर्फ उसका परानपुर गांव बल्कि हिंदुस्तान के कई गांव कांच के बर्तनों की तरह टूट रहे हैं। नया बदलाव, नेतागिरी, कोटा-परमिट वाले व्यापारियों और तथाकथित उन समाजसुधारक महाप्रभुओं के कारण आया है जो भ्रष्टाचार में आकण्ठ डूबे हैं। आर्थिक विषमता के कारण संयुक्त परिवार टूटे हैं। संघर्ष और संक्रमण की इसी दुनिया के बीच रेणु का रचना-संसार सतत क्रियाशील रहता है।

रेणु के उपन्यासों का लोक-जीवन प्रकृति के अत्यन्त निकट है। 'मैला आंचल' से एक उदाहरण लिया जा सकता है: "चैत की गोधूली में अपनी सारी तेजी खोकर सूरज ने श्याम सलोनी संध्या के आंचल में अपना मुंह छिपा लिया था। दूर तक फैली हुई ताड़ों की पंक्तियां, कुछ मटमैली, कुछ सिंदूरी-सी पृष्ठभूमि में गर्दन ऊंची करके सूरज को अतल गहराई में डूबते हुए देख रही थीं। गाय और बैलों के साथ घर लौटते हुए चरवाहे सावित्री बाल का गीत गा रहे थे—

"आहे सखी चलू फुलवारी देखे हे
देखिवो सुंदर रूप
नाना रसना फूल अनूप चलू फुखवारी देखे हे"

गुलमोहर के लाल बुझ गए और अमलतास की पीली ओढ़नी न जाने कब सरककर गिर पड़ी किन्तु योजन गंधा अब पागल बना रही है।

यह लोक जीवन कितना नैसर्गिक है। कितना आकर्षक और मनोरम किन्तु लोक जीवन में तनाव तब आता है जब किसान यह देखता है कि उसके किए 'श्रम' का अधिकांश भूमिपति को प्राप्त हो जाता है।

तनाव के कारण

रेणु के उपन्यासों में कई प्रकार के मानवीय मूल्य उभरकर आते हैं। उनके प्रायः

उपन्यासों में कुछ पात्र ऐसे हैं जो अपनी-अपनी भूमिकाओं में किसी न किसी प्रकार के महत मानवीय मूल्यों की सृष्टि करते चलते हैं। राजनीतिक संदर्भ में रेणु अनेक दलों का चित्रण करते हैं। राजनीतिक संदर्भ में जैसे कांग्रेस, हिंदू महासभा, समाजवादी दल—और इन सबके प्रति बिना किसी आग्रह के, रेणु भरपूर न्याय करते चलते हैं। 'मैला आंचल' का बावनदास बलिदान और त्याग और देशप्रेम के मूल्यों से ओतप्रोत है। सामाजिक स्तर पर डॉक्टर प्रशांत है जो सिर्फ अपना कर्तव्य पालन करना जानता है। इसी प्रकार रेणु के दूसरे महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'परती परिकथा' में जितेंद्र को केन्द्र में रखकर मानव मूल्यों को उजागर किया गया है। 'जुलूस' में रेणु ने पवित्रा के माध्यम से कुछ मूल्यों की ओर संकेत किया है।

किंतु विडंबना यह है कि आधुनिक राजनैतिक प्रणालियों में ये मूल्य कहीं खण्डित हो जाते हैं। उच्चवर्ग, मध्यवर्ग, निम्नवर्ग, चुनाव, दलबंदी, पुलिस, पद-प्रतिष्ठा, सरकारी अफसर, जन कल्याण सभाओं की गतिविधियां स्वतंत्र भारत की नयी उपलब्धियां (!) हैं। ये सब सीधे-सादे गांव वालों को बहकाकर, उनके बीच संदेह जनित दीवार खड़ी करके अपनी स्वार्थ लिप्सा की पूर्ति में सचेष्ट दीखते हैं। गांव के लोग जब इनकी असलियत से परिचित होते हैं तब तनाव उपजता है। नयी पीढ़ी आत्महत्या की ओर अग्रसर है। अमृतलाल नागर का चाहे 'बूंद और समुद्र' हो या शिवप्रसाद सिंह का 'अलग-अलग वैतरणी' या श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी'—इन सबकी लेखनगत परिस्थितियां एक-सी ही हैं। आधुनिक भारतीय जीवन की ग्राम और नगर के स्तर पर व्याप्त मूल्य हीनता, विघटन, संस्कारहीनता तथा चारित्रिक पतन पर इन उपन्यास-कारों ने निर्मम प्रहार किए हैं।

यदि हम आधुनिक राजनैतिक प्रणालियों की पड़ताल करें तो पाएंगे कि सबसे पहले लोक जीवन का तनाव सामाजिक मूल्यों के टूटने के कारण आता है। इसके अलावा रेणु के उपन्यासों में दूसरे कारणों में तहसीलदार, पुलिस, भ्रष्टन्याय व्यवस्था, अफसर और नेता तनाव के मूल में हैं। 'जुलूस' उपन्यास में रेणु ने एक नये गांव के बसने की कहानी कही है। यह नया गांव एक शरणार्थी कालोनी है। इस कालोनी के रूप में कथाकार की आंचलिकता नये स्तर पर प्रभावी दृष्टिगोचर होती है। नया समाज, उसकी रचना, नयी समस्याएं, उसके बीच से उभरने वाले नये सवालों से 'जुलूस' में कथाकार बार-बार जूझता हुआ दृष्टिगोचर होता है। उपन्यास कार ने एक प्रमुख पात्र गोपाल पाइन के माध्यम से एक नये बस रहे समाज और परंपरागत स्थापित समाज के बीच टकराव का चित्रण किया है। यहां एक नए किस्म का तनाव उपजता है—टकराव नये पाकिस्तान टोला और उसके बगल के पुराने गोड़ियार गांव के बीच के संघर्ष को लेकर है जिसका सरगना तालेवर गोढ़ी नाम का बूढ़ा कृषक है, जो शोषक और धूर्त तथा पाखण्डी है। जयराम सिंह और रामजय सिंह उसके दो लठैत हैं। गोपाल पाइन पात्र के माध्यम से निम्नलिखित तनावों को बुना गया है—(क) उसके गांव नवीनगर के पृथक् नाम का एक पुख्ता साइनबोर्ड होना चाहिए। (ख) 'अपनी पार्टी' के लोगों की तलाश होनी चाहिए जो हिंदुस्तानियों को गाली देते हों और बंगालियों की प्रशंसा करते हों, (ग) गोड़ियर गांव से नवीनगर का किसी प्रकार का संबंध नहीं होना चाहिए।

'जुलूस' उपन्यास में बाहर से देखने पर ऐसा लगता है कि नवीनगर कॉलोनी में दिन-रात बंगला कल्चर और संगठन के लिए आपाधापी मची हुई है किंतु उपन्यासकार समस्त कांव-कीच के बीच से ऐसे पुष्ट सूक्ष्म संकेतों को प्रस्तुत कर देता है जिससे लगता है कि मुख्य समस्या

आर्थिक है। और आज के संदर्भ में भी तनाव का मूल कारण यही है।

रेणु के आखिरी उपन्यास 'पल्टू बाबू रोड़' के तनाव वाले हिस्से में नेता, अधिकारी, ठेकेदार, पूंजीपति, गृहस्वामी सब भ्रष्ट हैं। इस पीढ़ी की सारी गलाजत को भोग रही है नयी पीढ़ी। यह पीढ़ी इस चतुर्मुखी गिरावट में स्वयं को बेचने के लिए विवश है। कुमारियां अपने शरीर का सौदा कर रही हैं, युवक अपने व्यक्तित्व का। नयी-पुरानी पीढ़ी के इस तनाव को रेणु बखूबी उभारते चलते हैं।

लोक-जीवन और वर्तमान प्रणालियों के बीच का तनाव गांव के सीधे-सादे निश्च्छल और नैसर्गिक जीवन को कहीं गहरे खण्डित करता चलता है। उन्हें मृत प्राय: बनाता है फिर भी गांव के लोकगीत, पुरानी गीत गाथाएं, किंवदंतियां, परिकथाएं, गांव के देवी-देवता—प्रकृति, जमीन सब में—सब के प्रति असीम आत्मीयता का सागर इनके मन में उमगता रहता है। इनमें लचीलापन है इसलिए परिस्थितियों के उग्र प्रवाह में ये झुकते अवश्य हैं किंतु टूटते नहीं हैं।

फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों में चित्रित्र लोक-जीवन में चाहे जितने प्रकार के तनाव हों किंतु अंततः राजनीति, धर्म, सामाजिकता और संस्कृति की धरोहर एकमेक हो गयी है। हिंदी आंचलिक कथा-साहित्य में कई प्रकार की तनावग्रस्तताओं ने इन्हें प्रभावित अवश्य किया है किंतु पूरी तरह विकृत नहीं किया है। रेणु ने यह विश्वास दिलाया है कि इनके सांस्कृतिक स्रोतों को सूखने नहीं दिया जाए। नौकरशाही और सत्ताधारी पक्ष कुछ अधिक कर्मठता, कर्तव्य पटुता और ईमानदारी का परिचय दें तो भारत की उर्वरा भूमि पर महान संस्कृति के बीच हो सकते हैं।

[25 गुरू अंगदनगर (वेस्ट) मोहन पार्क, शकरपुर, दिल्ली-92]
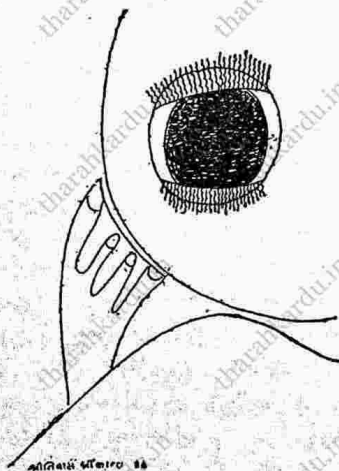
साहित्य और प्रगतिवाद

□ **देवराज**

'साहित्य में प्रगतिवाद की मुख्य धारा' के बारे में लिखना और उसका सम्बन्ध 'सामूहिक संघर्ष' से जोड़ना ये दोनों बातें उलझन में डालने वाली हैं। प्रगतिवादी साहित्य या काव्य की मुख्य धारा बीसवीं शती के चौथे दशक में शुरू हुई। दिलचस्प बात यह है कि इस धारा का प्रवर्तन या प्रारम्भ कुछ आलोचकों ने जो मार्क्सवादी के रूसी संस्करण से प्रभावित थे—किया। सन् 1917 में रूस में लेनिन-जात्स्की आदि के नेतृत्व में साम्यवादी क्रान्ति हुई थी। यह क्रान्ति रूस की जारशाही के विरुद्ध पहले मध्यवर्गीय नेताओं का विद्रोह था जिसे बाद में किसानों व मज़दूरों की क्रान्ति का रूप दिया गया। देखने की बात यह है कि इस क्रान्ति के अधिकांश नेता मध्यवर्ग के थे। इस क्रान्ति की खबर और उससे प्रभावित चेतना अपने देश में लगभग पन्द्रह वर्ष बाद फैल सकी। इसका एक कारण यह था कि सन् 20 से लेकर सन् 30 तक और उसके बाद भी सन् 42 की क्रान्ति तक, अपने देश में स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ी जाती रही जिसका नेतृत्व गांधीजी और जवाहलाल नेहरू आदि कांग्रेस के नेता करते रहे। उन दिनों कांग्रेस में कई समाजवादी नेता भी थे, जैसे जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्र देव, राम मनोहर लोहिया आदि। किन्तु उन दिनों उक्त समाजवादी नेता भी कांग्रेस के साथ थे। इन नेताओं पर जहां एक ओर मार्क्सवाद का प्रभाव था वहां दूसरी ओर वे गांधी जी के सत्याग्रह-सम्बन्धी विचारों से भी प्रभावित थे। सत्याग्रह संघर्ष की एक नई प्रणाली थी जिसमें साधनों की शुद्धता पर विशेष बल दिया जाता था। उन दिनों कुछ प्रसिद्ध नेता जैसे सुभाषचन्द्र बोस और एम्० एन्० राय गांधी जी की अहिंसा को स्वीकार नहीं करते थे, पर वे संघर्ष का कोई दूसरा तरीका नहीं बता सके। उक्त दोनों नेताओं ने सशस्त्र संघर्ष के लिए विदेशों से हथियार लाने की कोशिश की, पर उसमें सफल न हो सके।

जैसा कि हमने कहा प्रगतिवादी आन्दोलन का प्रारम्भ मुख्यतः आलोचकों ने किया, लेखकों अथवा कवियों ने नहीं। ये आलोचक रूस की क्रान्ति और लेनिन द्वारा प्रचारित मार्क्सवाद से प्रभावित थे। उन्हें गांधीजी और उनके सत्याग्रह से कोई सहानुभूति न थी। उस समय के प्रमुख कवि और लेखक स्वतन्त्रता-संग्राम को प्रेरणा देने वाला साहित्य या काव्य लिख रहे थे। इस दृष्टि से सर्वश्री माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, रामधारी सिंह दिनकर और सुश्री सुभद्रा कुमारी चौहान के नाम उल्लेखनीय हैं। सन् 30 या 36 के बाद उभरने वाले प्रगतिवादी आलोचकों में सर्वश्री रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान और प्रकाशचन्द्र गुप्त प्रमुख थे। बाद में डा० नामवर सिंह, संभवतः पांचवें दशक में, उक्त समुदाय से जुड़ गए। जैसा

कि हमने कहा गांधी-युग के कवि तथा दूसरे साहित्यार भी मार्क्सवादी न थे। कथाकारों में प्रेमचन्द पर आर्यसमाज का प्रभाव भी है और गांधीवाद का भी। उनकी 'रंगभूमि' का सूरदास नाम का पात्र सत्याग्रह करता दिखाया गया है। किन्तु प्रगतिवाद का आंदोलन खड़ा करने के लिए यह जरूरी था कि आलोचक लोग कुछ लेखकों को साथ लें। प्रगतिवादी आलोचक छायावाद के विरोधी थे। उनका कहना था कि छायावादी काव्य व्यक्ति-परक है और समाज से विमुख। उनकी आलोचना का प्रभाव क्रमशः लेखकों पर पड़ा, विशेषतः कवि पन्त पर। पन्त की 'ग्राम्या', 'युगवाणी' जैसी कृतियों में सामाजिक जीवन और ग्रामीण मनुष्य से सम्बन्धित काव्य लिखने की कोशिश की गई। फलतः प्रगतिवादी आलोचकों ने पन्त जी की प्रशंसा शुरू की। किन्तु बाद में जब पन्त पर श्रीअरविन्द के दर्शन का प्रभाव पड़ने लगा तो प्रगतिवादी आलोचक उनके विरुद्ध हो गए। यहां यह भी द्रष्टव्य है कि पन्त का बाद का काव्य, विशेषतः 'लोकायतन' कवित्व की दृष्टि से अच्छा नहीं बन पड़ा है। पन्त को छोड़ने के बाद प्रगतिवादी आलोचकों ने कविता के क्षेत्र में निराला को और कथा के क्षेत्र में प्रेमचन्द को पकड़ा।

यहां एक उल्लेखनीय बात यह है कि प्रगतिवादी आलोचक शुरू से आज तक इस पर जोर देते आये हैं कि काव्य या साहित्य की विषय-वस्तु क्या हो। इस सम्बन्ध में वे दो बातों पर जोर देते हैं; एक यह कि साहित्य की विषय-वस्तु सामाजिक होनी चाहिए, अर्थात् समाज का जीवन या जन-जीवन। जन-जीवन से तात्पर्य है समाज के दलित और शोषित वर्गों का जीवन। दूसरे, वे चाहते हैं कि आज के लेखकों को मार्क्सवादी क्रान्ति का समर्थक होना चाहिए। हमारी राय में जहां उनका पहला आग्रह एक सीमा तक उचित है, वहां दूसरा आग्रह उचित नहीं है। इसके दो कारण हैं। पहला कारण यह कि हम लेखक को एक या दूसरी विचारधारा को मानकर चलने के लिए मजबूर नहीं कर सकते। लेखक दुनिया और समाज का और इतिहास का भी स्वतन्त्र द्रष्टा और स्वतन्त्र विचारक होता है। अपनी जगह सचमुच बड़ा लेखक किसी भी बड़े विचारक से छोटा नहीं होता। चिंतन के इतिहास में दर्जनों बड़े विचारक हुए हैं। शिक्षा और मुद्रित पुस्तकों के बढ़ते प्रसार और विस्तार के कारण इधर विचारकों की संख्या भी बढ़ रही है। श्रेष्ठ लेखक विभिन्न क्षेत्रों के ज्ञान-विज्ञान और चिन्तन को आत्मसात् करके अपनी जीवन-दृष्टि बनाता है—वह बड़े से बड़े विचारक और धर्म-शिक्षक का पिछलग्गू बनकर आगे नहीं बढ़ सकता। ऐसी स्थिति में आलोचक को यह अधिकार नहीं कि वह लेखक को हुक्म दे कि वह इस या उस वाद को मानकर चले। यदि लेखक देखता है कि आज के युग में, आज की सरकारों के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति सम्भव नहीं है, और यदि वह जनतंत्र का समर्थक भी है, तो उसे यह अधिकार होना चाहिए कि वह जनता को तदनुकुल ढंग से शिक्षित करे।

यहां यह लक्षित करने की बात है कि प्रगतिवादी समीक्षक काव्य-साहित्य के कलापक्ष यानी सौष्ठव की बहुत-कुछ उपेक्षा करते हैं। हम मानते हैं कि अन्ततः सशक्त और सुन्दर साहित्य ही टिकता है और वही लोक-मानस पर स्थायी प्रभाव डालता है। सूर, तुलसी आदि की कृतियां इसका प्रमाण हैं। जोशीली नारेबाजी से अच्छा साहित्य नहीं बनता। वास्तव में साहित्य के पाठक अपढ़ या कमपढ़ किसान-मजदूर नहीं होते, सिर्फ मध्यवर्ग के सदस्य होते हैं। ये पाठक साहित्य को मुख्यतः या केवल उपदेश लेने के लिए नहीं पढ़ते। वे उसे रस-चेतना के विस्तार और उच्च कोटि के मनोरंजन के लिए पढ़ते हैं।

प्रगतिवादी समीक्षकों ने काव्य-साहित्य के कलात्मक व रंजकपक्ष की उपेक्षा की। इसका

फल यह हुआ कि चौथे-पांचवे दशकों में अज्ञेय के नेतृत्व में प्रयोगवादी काव्य का और उसके बाद नई कविता का आन्दोलन चला। इस बीच में जिन कवियों को प्रगतिवादी समीक्षकों ने पसन्द किया है उनमें सर्वश्री मुक्तिबोध, धूमिल और नागार्जुन उल्लेखनीय हैं। इन कवियों की अपनी-अपनी शक्ति और कमजोरियां हैं। भाव-समृद्धि की दृष्टि से मुक्तिबोध सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। उनका काव्य मात्रा में भी विपुल है। मुक्तिबोध शुरू में अज्ञेय द्वार सम्पादित 'तारसप्तक' के एक कवि के रूप में आये। शुरू में प्रगतिवादी समीक्षकों ने भी उन्हें विशेष महत्त्व नहीं दिया। वास्तव में, कलात्मक सौष्ठव और उक्ति-भंगी की नवीनता की दृष्टि से, वे अज्ञेय से काफी पीछे थे। इस दृष्टि से रघुवीर सहाय, शमशेर बहादुर सिंह, गिरिजा कुमार माथुर आदि उनसे श्रेष्ठतर दिखायी देते थे। पर उनकी मृत्यु के बाद प्रगतिवादी समीक्षकों ने उन्हें अतिरिक्त महत्त्व देना शुरू कर दिया—ठीक जैसा निराला के साथ हुआ था। मुक्तिबोध का स्वतन्त्र संग्रह 'चाँद का मुंह टेढ़ा है' काफी देर से, 1962 में छपा। उनका काव्य बहुआयामी है, तरह-तरह की बिम्ब सामग्री से भरपूर। किन्तु अपनी लम्बी कविताओं में—और उनकी अधिकांश कविताएं लम्बी हैं—वे कलात्मक गुथन और अनुपात का ध्यान नहीं रख पाते। फलतः उनका काव्य सहृदय पाठकों को बांध नहीं पाता। द्रष्टव्य है कि मुक्तिबोध ने स्वतन्त्र रूप में न प्रकृति-काव्य लिखा है, न प्रेम-काव्य या शिशु-काव्य, यद्यपि जहां-तहां सब तरह की बिम्ब सामग्री उनकी लम्बी रचनाओं में बिखरी हुई मिल जाती है। धूमिल का सर्वश्रेष्ठ काव्य-संग्रह 'संसद से सड़क तक' 1972 में प्रकाशित हुआ। उनके काव्य में मुक्तिबोध की जैसी भाव-समृद्धि नहीं है। वे मुख्यतः असफल जनतन्त्र के प्रति आक्रोश का भाव प्रकट करने वाले कवि हैं। उनमें कलात्मक सजगता भी है। उनकी अकाल मृत्यु से हिन्दी काव्य की विशेष हानि हुई। धूमिल ने भी प्रकृति, प्रेम, शिशु आदि को लेकर स्वतन्त्र रचनाएं प्रस्तुत नहीं कीं।

नागार्जुन के इस समय हमारे सामने दो संग्रह हैं, 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने' (1980) और 'पुरानी जूतियों का कोरस' (1983। नागार्जुन प्रायः सामयिक घटनाओं पर काव्यात्मक या पद्यात्मक टिप्पणी करते हैं—कभी आपात काल पर, कभी जयप्रकाश नारायण पर, कभी आपात-विरोधी या उससे पूर्व के आन्दोलन पर। वे इस या उस नेता या शासक को पद्यबद्ध गालियां भी दे सकते हैं। और किसी को ऊंचे आसन पर भी बिठा सकते हैं। उन्हें रूस का लेनिन आकृष्ट करता है, स्वदेश के गांधी और नेहरू जैसे नेता नहीं। कोई ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य उनके पास नहीं है, पर वर्तमान जन-जीवन के अभावों को लेकर वे, और धूमिल भी, सशक्त और सूक्ष्म काव्य लिख पाते हैं। नागार्जुन कुछ उसी कोटि के जन-कवि है जैसे आल्ह खंड का गायक और राधेश्याम कथा-वाचक थे—यद्यपि नागार्जुन की काव्य भाषा में संस्कृत के शब्द भी अच्छा स्थान पा जाते हैं। यदि वे अपनी सम्वेदना को किसी कथा-काव्य में समेटते तो हिन्दी काव्य विशेष लाभान्वित हो सकता था।

यह भी द्रष्टव्य है कि उक्त कवियों में किसी ने देश-प्रेम से अथवा देश की स्वतन्त्रता के उल्लास से प्रेरित कविताएं भी नहीं लिखीं। उक्त तीनों कवि अपने देश की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत से कटे हुए जान पड़ते हैं। अपनी संस्कृति में उन्हें कोई गौरवमय तत्त्व दिखाई नहीं पड़ता। मुक्तिबोध में जहां युग की विसंगतियों और कष्टप्रद स्थितियों का सूक्ष्मतर आकलन है, वहां धूमिल और नागार्जुन का काव्य प्रायः स्वदेश की वर्तमान स्थिति पर केन्द्रित है।

[उच्चाध्ययन संस्थान, शिमला-4]

सहचर है सौंदर्य

□ डा० रामदरश मिश्र

एक दिन हमें ज्ञात हुआ कि हमें कम्युनिस्ट पार्टी के एक वरिष्ठ सदस्य (जो सरकार में किसी बड़े पद पर रह चुके हैं) से मिलने जाना है। अभी तक डा० भट्ट, दिल्ली विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में प्रोफेसर के नेतृत्व में आया दल भी यहीं था अत: दोनों दलों को साथ जाना था। डा० बी० के० सिंह उस सदस्य (नाम भूल रहा हूं) से पहले भी मिल चुके थे और उनके पांडित्य, सादगी और विवेक बुद्धि की बहुत तारीफ कर रहे थे। हम लोग वहां पहुंचे। पूरा औपचारिक वातावरण था। ठीक समय पर हम पहुंचे थे और हमें एक बड़े कक्ष में ले जाकर बैठाया गया और ठीक समय पर वे सदस्य कक्ष में उपस्थित हुए। मेरे पीछे मेरा हिन्दी दुभाषिया बैठा था। डा० भट्ट ने अंग्रेजी में और मैंने हिन्दी में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। अंग्रेजी दुभाषिये ने भट्ट की अंग्रेजी और हिन्दी दुभाषिये ने मेरी हिन्दी का कोरियाई भाषा में अनुवाद किया। उन सदस्य ने हमारे प्रति कृतज्ञता व्यक्त की और फिर बहुत देर तक अपने देश की वर्तमान व्यवस्था और भावी योजनाओं को समझाते रहे किन्तु केन्द्रीय मुद्दा था उत्तरी-दक्षिणी कोरिया की एकता का। उन्होंने स्वयं भी और हम लोगों के प्रश्नों के उत्तर के रूप में भी बहुत कुछ समझाते हुए बताया —"हमें समुद्र से जमीन निकालनी है, प्रति वर्ष 50 मिलियन टन अन्न उपजाने की हमारी योजना है। हम यंत्रीकरण चाहते हैं किन्तु हमारे खेतों में बहुत यंत्रीकरण संभव नहीं है। कपड़े के लिए हम नाइलोन फैक्टरी खोलना चाहते हैं। खाद का कारखाना खोलना चाहते हैं। इलेक्ट्रानिक इंडस्ट्री का विकास करना चाहते हैं। रोबट का प्रोडक्शन करने की योजना है। जहां तक शिक्षा का प्रश्न है तकनीकी शिक्षा पर हमारा अधिक बल रहेगा।" फिर उन्होंने पार्टी और सरकार के स्वरूप के बारे में बताया और कहा कि पार्टी गाईडिंग बाडी के रूप में काम करती रहेगी।

उन्होंने कोरिया के अनेक लोगों की तरह अपने देश के बंटने का दर्द व्यक्त करते हुए कहा —"हम दोनों देशों की फिर एकता चाहते हैं। दक्षिणी कोरियाई सरकार के नेता और पूंजीपति लोग जनता की इच्छा के विरुद्ध दोनों देशों की एकता होने देना नहीं चाहते क्योंकि इससे उनका स्वार्थ आहत होगा किन्तु हम इस देश में दुहरी शासन-व्यवस्था बनाये रख सकते हैं। उत्तरी कोरिया में एक सिस्टम रहेगा, दक्षिण कोरिया में दूसरा सिस्टम। हम किसी भी हालत में दोनों देशों को यानी एक ही देश के दो भागों को एक में मिलाना चाहते हैं और चाहते हैं कि अमेरिका दक्षिण कोरिया से जाए। इसलिए हम दो शासन-व्यवस्था का सिद्धांत भी मान सकते हैं।" उन्होंने बार-बार यह बात दोहराई कि भारत और उत्तरी कोरिया दोनों देश शान्ति चाहते हैं। दोनों को एक दूसरे का सहयोग करना चाहिए।

बातें हो रही थीं कि उनके पास एक चिट आया और उन्होंने अपना भाषण छोड़कर कहां कि कुछ लोगों को बाहर जाना है, वे जाएं। शेष लोगों से बात फिर होगी। मेरे दुभाषिया ने मेरे कान में कहा—'चलिए।' मुझे अब तक इस प्रोग्राम के बारे में पता नहीं था। उठकर वहां से चल दिया। मेरे साथ डा० अग्निहोत्री और अम्बिकादत्त मिश्र भी उठाए गए। डा० बी० के० सिंह और डा० टी० एन० सिंह वहीं रह गए। यहाँ का सारा काम बहुत सुनियोजित होता है। इन लोगों को पता होता है कि पहली यात्रा में व्यक्ति क्या-क्या देखता है। अत: जब वह दूसरी बार आता है तो उसे वे स्थान फिर नहीं दिखाए जाते, नये स्थान दिखाए जाते हैं। ये दोनों व्यक्ति दूसरी बार यहां आए थे। अत: मैंने मान लिया कि ये वह स्थान देख चुके होंगे।

मालूम हुआ कि हमें शहर से बाहर किसी स्थान पर जाना है। उसका नाम है न्योयांग पहाड़—यानी मनोरम सुगंधित पर्वत। मुझे बहुत राहत अनुभव हुई। लम्बी बहस और भाषण-श्रवण से बड़ी उकताहट होने लगती है। इससे मुक्ति तो मिली ही, एक नयी यात्रा में नया देखने को मिलेगा, इसका सुख भीतर भर आया। हमें बड़ी तेजी के साथ 'जूचे एकेडेमी' भवन ले जाया गया। हमने आवश्यक समान लिया और तुरन्त स्टेशन के लिए रवाना हो गए। हमारे साथ अकादमी के प्रोफेसर यंग मन थे और थे दुभाषिया काङ। स्टेशन पर पहुंचे। वहां का वातावरण बहुत अनुशासित था और स्टेशन बहुत साफ-सुथरा था। मालूम हुआ कि हमें एक छोटी-सी ट्रेन से यात्रा करनी है। उसमें चार डिब्बे लगे होते हैं और यह गाड़ी अतिथियों के लिए ही होती है, जो प्यांगयांग से उन्हें न्योयांग पहाड़ तक ले जाती है। न्योयांग पहाड़ अपने सौंदर्य के कारण तो दर्शनीय है ही, उसका एक और महत्व है जिसके साक्षात्कार के लिए अतिथियों को वहां ले जाया जाता है। वह है वहां स्थित अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री प्रदर्शन भवन। उस भवन में इस देश के महान नेता किम उल सुंग और प्रिय नेता किम जान इल को विश्व के विभिन्न देशों द्वारा दिए गए उपहारों की प्रदर्शनी लगी हुई है। उसका साक्षात्कार कराने के लिए अतिथियों को वहां ले जाया जाता है। गाड़ी आयी। हमें उसमें ले जाया गया। जाने की प्रक्रिया में मैंने प्लेटफार्म के साथ-साथ रेल लाइनों को देखा और पाया कि कहीं कोई गन्दगी नहीं है। मुझे अपने देश के स्टेशनों पर गन्दगी से लदी लाइनें याद आयीं। प्लेट फार्म पर ही थूकते लोग याद आए। डिब्बे के अन्दर गए। बहुत सजे-सजाए एयरकंडीशंड केबिन थे। एक केबिन में मेरे लिए व्यवस्था थी, दूसरे में दो साथियों की। केबिन में विस्तर कम्बल, चादर, तौलिये सभी रखे थे, रबड़ की चप्पलें थीं। मेज पर फल आदि रखे हुए थे। टी० टी० के रूप में दो बहुत स्मार्ट, सुन्दर और लम्बे कद की लड़कियां थीं। उनकी उपस्थिति से डिब्बे की चारुता मुखर हो उठी थी।

लड़कियों की बात आयी तो थोड़ी देर रुककर उनकी भूमिका की पहचान कर ली जाए। मुझे (बल्कि हमें) लगा कि इस देश में स्त्रियों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। उन्हें बस चलाते देखा। तमाम चौराहों पर उन्हें अत्यन्त सक्रिय और स्मार्ट पुलिस के रूप में देखा, तमाम स्थानों पर उन्हें गाइड के रूप में देखा, सड़कों और अन्य सार्वजनिक स्थानों पर उन्हें सार्वजनिक कार्य करते देखा। सर्कसों और नाटकों में उन्हें खेल करते और अभिनय करते तो देखा ही, प्रबन्धक निर्देशक के रूप में भी देखा। शैक्षिक क्षेत्र में तो वे थीं ही। यानी अपने देश के निर्माण में वे पुरुषों की तरह सक्रिय हैं भीतर और बाहर। उनके होने से केवल काम ही नहीं होता बल्कि वातावरण में एक स्निग्धता और प्रियता भरी होती है। स्त्री-पुरुष के बीच कोई कृत्रिम दीवार नहीं, इस लिए वहां उस दीवार से उत्पन्न कुंठा और कुरूप व्यवहार की गुंजाइश कम दीखती है। स्वस्थ

तन और स्वस्थ मन का खुलापन चारों ओर नज़र आया।

किन्तु लड़की आखिर लड़की होती है। सौंदर्य के साथ सहज संकोच का लगाव स्वाभाविक होता है—

हे लाज भरे सौंदर्य बता दो
मौन बने रहते हो क्यों ?

हमारे डिब्बे की लड़कियां टी० टी० तो थीं किन्तु वे पुरुष टी० टी० की तरह निःसंकोच भाव से हमारी सुविधा-असुविधा पूछने नहीं आयीं। अपनी जगह पर बैठी रहीं या हमारे दुभाषिए के पूछने पर कुछ कहा या किया। उनका मौन भी मुखर था। उनकी शालीन और सौंदर्य गर्वित चुप्पी बोल रही थी और हम सुन रहे थे। हमें सारी सुविधाएं अपने आप प्राप्त थीं उन सुविधाओं को उनका अस्तित्व एक सुगंधित वातावरण प्रदान कर रहा था।

गाड़ी चलने वाली थी, मैंने दुभाषिए से कहा—"मैं ज़रा ट्वायलेट हो आऊं।" उसने बहुत अदब से कहा—"अभी नहीं, गाड़ी खुलने के दस मिनट बाद।" अब मेरी समझ में आया कि यहां के प्लेट फार्म और रेलवे लाइनें क्यों साफ-सुथरी हैं। वैसे हिदायत तो हमारे यहां की गाड़ियों में भी लिखी होती हैं किन्तु हिदायत कौन सुनता है? उन्हें न कोई भय है, न नागरिक बोध। इसलिए स्टेशनों पर जानबूझकर लोग शौचालय में चले जाते हैं। बसों में लिखा होता है, 'सिगरेट पीना मना है' और लोग बाहर यों ही खड़े रहेंगे और ज्यों ही बस में बैठेंगे भक से सिगरेट जला लेंगे और एक हीरोइक अंदाज में अन्दर की ओर धुआं फेंकेंगे। कोई टोकेगा तो या तो उपेक्षा कर जाएंगे या झगड़ा कर लेंगे।

गाड़ी चल पड़ी। बात करने के लिये सभी लोग मेरे ही केबिन में आ गये। टेबल पर बीयर की बोतलें थीं, फल थे, और कुछ और खाद्य थे। बातें होती रहीं, खान-पान चलता रहा। कुछ देर बाद भोजन (जो बांधकर लाया गया था) खुला और उसका आस्वाद लिया गया। कुल चार घंटे की यात्रा थी। मजे में बीत गयी। वहां पहुंचे। एक होटल में ठहरने की व्यवस्था थी। ठहरे। सुबह वहां घूमने का क्रम शुरू होना था।

सुबह हुई। रात ठीक से नींद नहीं आयी। बीमारी का असर तो था ही। कमरा बन्द था। यहां के मकानों में खिड़कियां नहीं देखीं। देखी तो बन्द देखीं। वे प्रायः शीशे की होती हैं और बन्द रहती हैं। होटल में भी यही हाल था। जिस जूचे अकादमी में ठहरे थे वहां भी यही हाल था। किन्तु जूचे अकादमी के कमरे एयरकंडीशंड थे इसलिये वहां बन्द कमरे की घुटन नहीं थी। किन्तु इस होटल के कमरे एयरकंडीशंड नहीं थे। रात को घुटन होने लगी। उठ-उठकर देखने लगा, शीशे की दीवारों को टटोलने लगा कि शायद कोई जंगला हो जो खुलता हो, किन्तु कहीं कुछ नहीं था। सिर तो ऐसे ही दुखता रहता था और भी तपने लगा। भारतीय संस्कार कमरे में जंगला या खिड़की जरूर खोजता है, तिस पर यदि देहाती संस्कार हो। देहाती परिवेश खुले में होने का संस्कार देता है। यदि कमरे में बन्द भी हों तो वह संस्कार बाहर से जुड़े रहने के लिये एक जंगला ज़रूर खोजता है। अन्दर की दुनिया चाहे जैसी भी सुविधाजनक हो, अपने आप में पर्याप्त नहीं होती, घुटन देती है, इसलिये बाहरी दुनिया से उसका लगाव वह चाहता रहता है। अन्दर चाहे शीतताप नियन्त्रित वातावरण क्यों न हो बाहरी प्राकृतिक हवा के बिना वह ताज़गी नहीं प्राप्त कर पाता। इसलिये हम चाहे बीजिंग गये, चाहे प्यांगयांग, चाहे उत्तरी कोरिया के और शहरों में, चाहे मास्को, हम सबसे पहले खिड़की या जंगला खोजते थे। अपने देश में भी प्रथम

श्रेणी के डिब्बे में ठेठ शहरी लोगों के साथ यात्रा करते हुए बंदपन का अभिशाप झेलना पड़ता है। रात को लोग डर के मारे जंगले बंद कर लेते हैं और मुझे घुटन होती है। जंगला खोलने का आग्रह करते हैं तो वे लोग बाहर के चोरों का भय दिखाते हैं। खैर, मेरे जैसे देहाती लोगों के कारण दुनिया की प्रगति तो नहीं रुकेगी, आधुनिकता का रथ तो नहीं रुकेगा। आप चारों ओर जंगले खोजते रहिये, दुनिया अपारदर्शी शीशों का बन्द कमरा बनती चली जा रही है।

सवेरे उठा तो सिर बहुत भारी था। होटल के बाहर आ गया। क्या ताज़ा हवा थी। चारों ओर प्रकृति का अनुपम सौंदर्य बिखरा हुआ था। आसपास की प्रकृति को काट-छांटकर नागरिक रूप दिया गया किन्तु दूर-दूर तक पहाड़ और वृक्ष अपनी स्वाभाविक छटा के साथ पूरे वातावरण में व्याप्त थे। होटल की नागरिक प्रकृति के अहाते से सटी हुई एक नदी बह रही थी —अपनी जंगली छवि के साथ। उसके दोनों तट ऊबड़-खावड़ थे और उन पर जंगली पेड़ सघन और विषम पंक्तियों में खड़े थे। अपने यहां अक्तूबर के दिनों में बहती हुई जंगली नदी की याद मुझे छूने लगी। देखा कि कुछ नौकर-चाकर से लोग उसके घाट पर उतर रहे हैं और वहां दातून-कुल्ला कर रहे हैं, नहा भी रहे हैं। मैं आगे घाट की ओर बढ़ गया। नदी के पानी, काफी नीचे के घाट तक झाड़ियों से घिरी एक पगडंडी गयी थी। इच्छा हुई मैं भी उतर जाऊं और नदी के पानी के छींटे मुँह पर मार-मार सिर के भारीपन को हल्का कर लूं। किन्तु नहीं जा सका। लल-कता रहा। इस देश का विशिष्ट अतिथि होने का बोध पीछे खींचता रहा। और मैं अहाते में ही घूमघाम कर कमरे में लौट आया।

कह चुका हूं कि यहां हमारे कार्यक्रम का नक्शा पहले से बना होता था और हर काम ठीक अपने समय पर होता था। आठ बजे हमें यहां से निकलना है तो आठ बजे ही निकलना होगा और इन कार्यक्रमों से सम्बद्ध लोगों को जहां-तहां ठीक अपने समय पर हमसे जुड़ने के लिए तैयार रहना होता था। हम भावुकता में कहीं भी विलभ नहीं सकते थे। अतः प्रकृति की अन्त-रंगता में खो जाने के स्थान पर अब अगले कार्यक्रम के लिये तैयार होने लगा। आठ बजे गाड़ियां आ गई थीं। हम गंतव्य की ओर चल पड़े। गंतव्य था अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री प्रदर्शन भवन। निकले तो उसी नदी को उस पर बने सुन्दर पुल के ऊपर से पार किया। रात को आते समय इस परि-दृश्य का अंग-अंग खिल उठा था। चारों ओर एक प्रसन्न सौंदर्य गूंज रहा था। नदी का दृश्य भी अद्‌भुत था। नदी पार करते ही एक काली चिकनी सड़क पर आ गये। उसके एक ओर पर्वतीय संसार था दूसरी ओर यह नदी। दोनों के बीच अठखेलियां करती हुई सड़क भागी जा रही थी। नदी के उस तट की ओर भवन बने थे जो जमीन की ऊंचाई-नीचाई के कारण स्वप्नलोक से सुंदर लगते थे। कुछ देर बाद हमारी कार अपने गंतव्य पर पहुंच गई। वहां स्वागत करने के लिए पथ निर्देशिका पहले से ही खड़ी थी। हम लोग जहां पहुंचे वहां भी यही नदी थी। उसके एक ओर सघन जंगल था दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री प्रदर्शन भवन तथा उससे जुड़े अन्य भवन थे। वहां नदी की छवि अद्‌भुत थी। नदी में पत्थर के टुकड़े भरे थे और उन पत्थरों पर उछलता-कूदता कल-कल स्वर में सान्द्र गान करता हुआ नदी का पारदर्शी गहरा जल बह रहा था। उसकी गंभीर प्रतिध्वनि चारों ओर के वातावरण में व्याप्त हो रही थी। हम वहां थोड़ा ठहर गए और मुग्ध भाव से उसे देखते रहे। प्रकृति की भाषा सार्वभौम होती है उसे समझने के लिए दुभाषिये की आवश्यकता नहीं होती। इसलिये हम मौन भाव से उसकी भाषा सुनते और समझते रहे और

वह भाषा सीधे हमारी संवेदना को छूती और स्पंदित करती रही।

इस दृश्य से होते हुए, उसके रूप, स्वर, गन्ध और स्पर्श को अपने में भरते हुए मैत्री प्रदर्शनी भवन में आये। बहुत विशाल और भव्य भवन था। इसमें अनेक देशों द्वारा किम उल सुंग को दिए गए उपहारों की प्रदर्शनी थी। प्रत्येक देश के उपहार के लिए अलग-अलग कमरे थे। यदि उपहार कम हुए तो अलग-अलग पंक्तियां थीं। सबसे कम उपहार भारत के थे। और देशों से तो राजकीय स्तर पर बड़े-बड़े उपहार मिले थे किन्तु भारत से मिले हुए उपहार वे ही थे जिन्हें जू के अकादमी की ओर से आमन्त्रित लोग ले जाते हैं। लगता है कि राजकीय स्तर पर दोनों देशों की बहुत आदान-प्रदान की स्थिति नहीं बनी है। भवन बहुत बड़ा था, अतः चलते और देखते-देखते हम थक गए थे। मैं चाहता था कि कहूं बस कीजिए—बहुत देख लिया किन्तु साथ के प्रोफेसर यंग मन हमारी विशेषतया मेरी थकान को समझते हुए भी अपनी ड्यूटी से बंधे थे। अतः उन्हें पूरा दिखाना ही था। थोड़ा विश्राम किया फिर शुरू हुआ देखना-दिखाना। देख चुके तो राहत की सांस ली। तभी मालूम पड़ा कि अभी प्रिय नेता किम जान इल को मिले उपहारों को भी देखना ही था, उसे भी देखने लगे। आखिर देख लिया और खूब थक भी गए। फिर दोपहर के भोजन के लिए होटल लौट आए।

भोजन के बाद हम पर्वतीय वातावरण में धंसकर चेयोचगसन प्रपात देखने गए। दूर से ही उसकी गुरुगम्भीर कहर सुनाई पड़ रही थी। काफी दूर अन्दर जाकर कारें रोक दी गयीं और अब हम पहाड़ी सीढ़ियां चढ़कर ऊपर की ओर जाने लगे। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते थे, झरनों का गम्भीर संगीत पास आ रहा था। स्कूलों के छोटे-बड़े बच्चे फूलों की तरह हंसते, पक्षियों की तरह चहचहाते आ रहे थे, जा रहे थे। हमें देखते ही बहुत प्यार से थोड़ा झुककर अन्येहास्मिका (नमस्कार) कहते थे। सचमुच पंक्तिबद्ध वे बच्चे इस सुन्दर, पर्वतीय परिवेश में मानवीय सौंदर्य के सुगन्धित वन्दनवार लग रहे थे। कभी-कभी उनमें से एकाध को क्षणभर के लिये प्यार से रोक लेता था और प्यार की भाषा में बात करता था। क्षण भर बाद रुके हुए जल की तरह वे वह चलते थे और लगता था उनके पूरे झुंड में लहर की तरह हंसी की हिलकोरें उठ रही हैं।

वहते झरने का किनारा आ गया था। हम कुछ देर तक उसके किनारे-किनारे उसकी विपरीत दिशा में ऊपर की ओर बढ़ते गये फिर एक समतल जगह पर जाकर रुक गये। इसके बाद काफी चढ़ाई थी। इसलिए हमारी चढ़ाई की इच्छा के बावजूद हमारी सुरक्षा के खयाल से हमें यहीं रोक लिया गया। हम झरने के बीच धारा में पैर फैलाकर एक शिला-खंड पर बैठ गये। ऊपर से अररा कर गिरते हुए जल-प्रपात को मुग्ध भाव से देखने लगे। लगता था जैसे क्रोध से उछलता हुआ नीचे गिर रहा है और समतल पर आकर शांत और निरुद्वेग हो जाता है। उसके नीचे गिरने की प्रक्रिया में कुहरे की तरह जल के झीने जाल चारों ओर फैल जाते थे और लगातार एक गुरुगंभीर घहर उठ रही थी। नीचे आकर वही उन्मत्त जल बड़े पत्थरों के बीच बच्चों की तरह खेलता खिलखिलाता आगे भागा जा रहा था। ऊपर झरने की स्रोत ऊंची पहाड़ी की अगम्य ऊंचाई थी नीचे उसकी मंजिल की अछोर दिशा थी। बीच में हम एक बिंदु पर बैठे उसको पूरी सघनता से कुछ देर के लिए जी लेना चाहते थे। उसके रूप, स्वर और स्पर्श को अपने अनुभव में उतार लेना चाहते थे। स्कूली बच्चों की पंक्ति लगातार ऊपर से उतरती हुई नीचे की ओर जा रही थी और हमें देखकर सस्मित नमस्कार करती थी। लगता था इस झरने के समांतर फूलों का एक झरना झर रहा है।

समय का दबाव था, कुछ और जगहें देखकर शाम को प्यांगयांग लौटना था, अतः यहां से उठना पड़ा। अलविदा दोस्त, मैं तुम्हें अपने अनुभवों में ले जा रहा हूं और अपने यहां के झरनों की लय में तुम्हें गूंथ दूंगा। उनसे कहूंगा कि दूर देश में तुम्हारे भाई बंधु से मिल कर आ रहा हूं। वे भी तुम्हारी ही तरह हंसते गाते हैं और आदमी को अपनी खुशी बांटते हैं। परिवेश थोड़ा भिन्न है तो क्या हुआ। तुम सभी चेतना और रूप की एक ही लय में बंधे हुए हो।

वहां से हम अनेक सुंदर ऊंचे-नीचे रास्तों और सड़कों से गुज़रते हुए बौद्ध मंदिर गये। वहां बौद्ध मंदिर को शाक्यामुनि मंदिर कहते हैं। यह मैंने अनुभव किया कि वहां के नास्तिक लोग बौद्ध धर्म के बारे में काफी कुछ जानने को उत्सुक थे। मुझसे भी प्रो० यंग मन ने काफी बातें कीं। यहां बौद्ध मन्दिर में ले जाते समय भी उन्होंने यह संकेत दिया कि धर्म के रूप में बौद्ध धर्म काफी कुछ हमारे विचारों के नज़दीक दिखाई पड़ता है। मुझे लगा कि मंदिरों का विरोध करने के बावजूद बौद्ध मंदिर के प्रति इन लोगों को गहरा लगाव है। इसलिए जब हम लोग अंदर गए तो दुभाषिये ने संकेत किया कि मंदिर की दान-पेटी में हम कुछ सिक्के छोड़ सकते हैं। मुझे तो चाहे देश में रहूं चाहे विदेश में, चाहे इस धर्म का मंदिर हो, चाहे उस धर्म का, मंदिरों से कभी लगाव ही महसूस नहीं होता और विशेषतया उसके कर्म-कांडी रूप से। और कर्म-कांडी रूप हर मंदिर में विद्यमान है। चाहे वह कर्म-कांड का विरोध करने वाले महापुरुष के बिंब को उभारता है। और जहां तक कला और संस्कृति को मूर्त करता है वहां तक अच्छा लगता है। इसलिए जहां कोई पुजारी न हो (और पुजारी कहां नहीं होते) वहां मंदिर या कोई देवभूमि या महापुरुष-भूमि मुझे अच्छी लगती है, मैं उसे देखकर उससे जुड़ी संवेदना से गुज़रने लगता हूं। पुजारी या धर्म के दलालों को देखते ही मंदिर से जुड़ी अर्थ पक्ष की कुरूपता गंधाने लगती है। लगता है बोटी-बोटी नोच लेने के लिए धर्म का मुखौटा लगाये अर्थ-पिशाच घूर रहे हैं। इसलिए मंदिरों की दान-पेटियों में सिक्के छोड़ने से मुझे अरुचि है। सामाजिक कार्यों की दान-पेटियों में सिक्के छोड़ने से सुख मिलता है, किंतु सामाजिक कार्यों के नाम पर खुली दान-पेटियां भी कहां शुद्ध रह गयी हैं। वे भी लोगों के भीख मांगने का बहाना बन गयी हैं। बहरहाल अग्निहोत्री जी ने एक सिक्का छोड़ा। हम लोग बाहर आ गये। हमें बताया कि यहां चार सौ साल पुराना पेड़ था उसे तथा अन्य अनेक अच्छे पेड़ों को अमरीकी बमों ने ध्वस्त कर दिया। पेड़ों को ही नहीं मंदिरों को भी नष्ट किया। वहां तीन सौ मंदिर थे अब बीस बचे हैं। और न जाने कितना कुछ ध्वस्त हुआ होगा।

धर्म सार्वभौम नहीं रह गया है। सभी चिल्लाते हैं कि सत्य एक है, ईश्वर एक है और सभी मंदिर भिन्न-भिन्न ढंग से उस एक सत्य को ही रूपायित करते हैं। किंतु ये सारी बातें किताबी या प्रवचन ही बनकर रह जाती हैं। एक मंदिर वाले को दूसरे मंदिर में आस्था नहीं है। एक धर्म वाले को दूसरे धर्म वाले के मंदिर में ईश्वर नहीं दिखाई पड़ता है। बल्कि सम्प्रदाय विशेष का देवी-देवता दिखाई पड़ता है और उसको तोड़ने में या उस पर थूकने में उसे तनिक संकोच नहीं होता। उसे लगता है जैसे वह कंकड़-पत्थर से बनी कोई चीज तोड़ता है, वैसे ही मंदिर भी तोड़ सकता है। वह ईश्वर की मूर्ति नहीं तोड़ रहा है बल्कि सम्प्रदाय या धर्म विशेष की आस्था को तोड़ कर उसे अपमानित कर रहा है और प्रतिशोध ले रहा है। वैसे लोगों को अपने ही मंदिरों में कितनी आस्था रह गयी है। मंदिरों के पुजारी और धर्म के

दावेदार लोग न तो ईश्वर की पवित्रता की रक्षा कर पाते हैं न उसके एकत्व की। लोगों ने धर्म को प्रदर्शन और अर्थ-प्राप्ति का साधन बना लिया है। विभिन्न धर्म-मंदिरों में लाउडस्पीकर लगे हैं, जिन पर चीख-चीख कर सेवा नियुक्त पुजारी और अंधविश्वासी भक्त लोग सामान्य जन की नींद हराम करते हैं। वे न जाने किस ईश्वर या देवी-देवता की पूजा करने का स्वांग करते हैं जो इन्हें सिखाता है कि चिल्लाओ, चिल्लाओ मेरा नाम ले लेकर। चाहे पास-पड़ोस में कोई आदमी बीमारी से मर रहा हो, कोई आदमी दिन भर पत्थर तोड़कर अभी-अभी सोया हो। किसी बच्चे की मासूम आंखों में अभी-अभी कोई मीठा सपना उतरा हो, कोई छात्र कल देने वाली परीक्षा के लिए पुस्तक की कठोर सतरों से जूझ रहा हो। हां, चिल्लाओ-चिल्लाओ मेरा नाम ले लेकर…। धर्म के नाम पर पैसा कमाने की पिशाची वृत्ति से ग्रस्त ये लोग मंदिरों में न जाने कितने अकांड कार्य करते रहते हैं। भोग-विलास की कौन-सी क्रिया बचती है इनसे ? अर्थ और काम की चहल-पहल से भरपूर मंदिरों में किस ईश्वर का साक्षात्कार होता है। इसलिए हर मंदिर वाले, चाहे अपने मंदिरों की ईश्वरीय पवित्रता का कितना डंडा क्यों न पीटें, वे स्वयं उसकी वास्तविकता को जानते हैं। वे मन से स्वयं अपने मंदिरों के प्रति निष्ठाशील नहीं होते तो दूसरे मंदिरों के प्रति कैसे होंगे। अतः वे दूसरों के मंदिरों के भी खोखलेपन को समझते हैं, और मानते हैं जैसे उनके मंदिरों में ईश्वर नहीं है, ईश्वर का स्वांग है। वैसे ही दूसरों के मंदिरों में भी। इसलिए दूसरों के मंदिरों को अपमानित और नष्ट करने में उन्हें ईश्वरीय भय का अनुभव नहीं होता। ईश्वर को परम सत्य के रूप में न मानने वाला ही यह मानता है कि वह हिन्दू है, मुसलमान है, ईसाई है, पारसी है और फिर इन सम्प्रदायों के भीतर भी वह भिन्न-भिन्न जातियों का है। और सबसे बड़ी विडम्बना तो हिन्दू मंदिरों की है क्योंकि वहां सबका ईश्वर तो है किंतु अछूतों का कोई ईश्वर ही नहीं है। 'ईश्वर सर्वत्र है, वह जड़-चेतन सबमें व्याप्त है' का डंका पीटने वाले इन ढोंगियों से पूछो कि ये अछूत ब्रह्मांड से निष्कासित हैं क्या ? न ये जड़ हैं न चेतन हैं क्या ? ईश्वर के नाम पर मनुष्य का इतना बड़ा अपमान करके भी धर्म के मंदिर को ईश्वर की बात करने का अधिकार है क्या ? उसे सही अर्थों में अस्तित्व में रहने का अधिकार है क्या ?

इसलिए मैं मानता हूं कि भौतिकवादी चिंतन ज्यादा आध्यात्मिक रहा है, क्योंकि वह संसार के सामान्य मनुष्यों के बारे में सोचता है और उनके भौतिक और आत्मिक (भीतरी) उन्नयन की उसे चिंता रहती है। यह भी विरोधाभास ही है कि आध्यात्मवाद के नाम पर मंदिर चलाने वाले लोग भौतिक सुख-सुविधाओं में अधिक गर्क रहते हैं और भौतिकवादी लोग ईश्वर का निषेध करते हुए औदात्य से स्पंदित रहते हैं। क्योंकि ये मनुष्य और विशेषतया सामान्य मनुष्य को प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। उनके मानवीय अधिकारों और संवेदनों की पक्षधरता करते हैं। उनके दुःखों और अभावों को दूर करने के रास्ते खोजते हैं। वे व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के स्थान पर समष्टिगत शक्ति को आदर देते हैं। अतीत में 'लोकायत' के भीतर आने वाले बौद्धधर्म, चार्वाक मत, जैन धर्म आदि तथा आधुनिक युग में मानववाद के अंतर्गत आने वाले विभिन्न भौतिकवादी चिंतन सम्प्रदाय सामान्य मानव के सुख-दुःख, कल्याण-चिंता से स्पंदित होने के कारण तथा मानव विरोधी धर्म-संप्रदाय-चिंतन का निषेध करके तथा अरूप अज्ञात के निर्मम अनुशासन को अस्वीकार कर समग्र रूप से इस प्रत्यक्ष संस्कार को सुंदर बनाने का लक्ष्य लेकर चलने के कारण उस औदात्य से मंडित हैं जिसे आध्यात्मवाद के क्षेत्र में ईश्वर के नाम पर

कल्पित किया गया था।

अतः अमेरिका ने कोरिया के बौद्ध-मंदिरों को नष्ट किया इसमें कोई अनहोनी बात नहीं थी। पूंजीवादी देश में बाजार का प्रभुत्व है। उस बाजार के लिए ही वह साम्राज्यवाद का विस्तार करता है और उस प्रक्रिया में मंदिर, मकान, मनुष्य, जानवर, बूढ़े, जवान, बच्चे, स्त्री, पुरुष का भेद-भाव उसके सामने नहीं होता। उसके पास केवल बम होते हैं और बमों को विवेक की आंख नहीं होती बल्कि आंख ही नहीं होती। वे अंधे अपनी ज्वाला उगलते हुए कहीं भी गिर सकते हैं और पल भर में मनुष्य और प्रकृति द्वारा सर्जित, पालित-पोषित लय-न्यस्त सौंदर्य की जगमगाती दुनिया ध्वस्त कर सकते हैं। ध्वस्त करते आ रहे हैं। हम उत्तरी कोरिया में उसकी विनाशलीला का जघन्य दृश्य देखते चल रहे थे। फिर भी विनाश लीला से बड़ी होती है सृजन लीला। कितना उत्साहवर्धक था यह देखना कि जापान और अमेरिका दो-दो पूंजीवादी देशों के भयानक संहारों को झेलता हुआ उत्तरी कोरिया किस तरह अपने देश को पुनः सर्जित करने में, ध्वस्त, विषण्ण वातावरण में जीवन-सौंदर्य का संगीत भरने में जुटा हुआ था। थोड़े ही दिनों में यह देश अपनी आंतरिक ऊर्जा से तनकर खड़ा हो गया था। उसकी ऊर्जा और सौंदर्य का साक्षात्कार हम लगातार कर रहे थे। यहां भी उसके छोटे-छोटे संदर्भों से गुज़रते हुए हम होटल लौट आये। कुछ देर बाद हम फिर प्यांगयांग लौटने के लिए स्टेशन आ गये।

गाड़ी चल पड़ी। संभवतः चार बजे थे। उधर से आते समय रास्ते में रात हो गयी थी, अतः कुछ देख नहीं पाये। इधर से लौटते समय प्रकाश था, अतः मैंने बाहर के दृश्यों में अपने को खो दिया। रेल की लाईन से थोड़ी दूर पर उसके सामानान्तर एक नदी बह रही थी। नदी के उस ओर पड़ाड़ियां थीं, और इस ओर खेत। नदी चौड़ी थी। लेकिन उसके तट ऊंचे नहीं थे। सपाट और स्फीत थे। तट पर कुछ दूर तक रेत फैली थी। पहाड़ी की ओर का दृश्य थोड़ा भिन्न था। उधर तट पर बालु का विस्तार नहीं था और तट भी अपेक्षाकृत ऊंचा था। गाड़ी में से नदी का चौड़ा प्रसन्न प्रवाह दिखाई पड़ रहा था। वह हमारे साथ-साथ हमजोली की तरह बही जा रही थी। कहीं पहाड़ियों की ओट में छिप जाती थी लेकिन लुका-छिपी खेलती दोस्त की तरह कुछ दूर बाद फिर निकल कर हंसने लगती थी। नदी और रेल की लाइन के बीच धान और मक्के के खेत थे जो एक विशेष अनुशासन में उगाये गये थे। लगता था उनकी गलियां बनी हुई हैं और बीच-बीच में बैंगन उगाये गये थे। मेड़ों पर कोहड़े की लतरें फैली हुई थीं। ज़मीन की कमी को किस कौशल से पूरा किया गया था, यह देखते बनता था। रेल की लाइन के पास तक दोनों ओर फसलों की सघन पट्टियां धंसी हुई थीं। और लाइन के किनारे की मेड़ों पर झंडे गाड़कर लता वाली सब्जियां उगायी गयी थी। लगता था हमारी गाड़ी फसलों के बीच से ही जा रही है।

इस देश ने कैसे अपनी सीमित भूमि के चप्पे-चप्पे का इस्तेमाल किया है, उसके भीतर स्थित जीवन दायिनी शक्ति की बूंद-बूंद कैसे संचित की है, देखते बनता था।

[आर० 38, वाणी विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली-110059]

कहानी

पहरा

□ राज कुमार राकेश

भरी बरसात में साध के ठीकरे की जोत अनवरत दस दिन जलाए रखना मंगतू के लिए कठिन दीख रहा था । आंधी-तूफान और छप्पर के सड़े खपरैल दानवों की तरह मुंह बाए, उसे पराजित करने के लिए आतुर थे । जोत कहीं बुझ गयी तो परलोक के रास्ते पर अग्रसर साध का अन्धेरों में भटकने का भय था । इसलिए ठीकरे ने जलते रहना था और मंगतू उनींद का कवच धारण कर इसकी सुरक्षा के मोर्चे पर डट गया ।

पर शीघ्र ही उसे भान हो गया कि कवच धारण कर लेना भी सुरक्षा की कोई गारंटी नहीं है । टपकते छत से आती एक छोटी-सी बूंद ने दीया बुझा दिया । मंगतू ने उसे जलाने में क्षण-भर की भी देरी नहीं की पर व्यवधान आ जाने से वह सिहर उठा । प्रातः काल उसने पुरोहित से इसका निराकरण करवा लिया । पिंड-दान की मात्रा बढ़ गयी ।

बिरादरी को बड़ी चिन्ता हुई । टपकते पानी को रोकने के उपायों पर विचार हुआ पर लम्बी बहस अनिर्णीत रही ।

छत टपकता रहा और दीया जलता रहा ।

रत्नों को सारा गांव कोस रहा था । तीन दिन पहले मांग सूनी हुई है और वह ठीकरे का ध्यान छोड़ सो रही ! विधवाओं ने अपने दिन याद किए । वे तो दस दिन···दस क्या महीने भर उनींदे रहीं थीं । न कुछ खाया, न पीया ! न नहाया न धोया ! कितना बदल गया ज़माना अब ! तीसरी ही रात में सो गयी, नासमझ ! बहुओं ने अपना भाग्य सराहा ! शुक्र है उनके शौहर तो ज़िंदा हैं ।

मंगतू खुद पर झींगता । नये खपरैल भी न डलवा सका साल-भर से । बड्डी ज़िन्दा थी तो हर साल छः महीने बाद खपरैल डलवा लेती थी । चाहे जो भी जुगाड़ फिट करना पड़ता उसे । बरसात को वह क्या दोष दे । इसका तो समय है । अपने समय पर आई, अपने समय पर चली जाएगी··· । पर क्या मालूम था कि भरी बरसात में साध ईश्वर को प्यारा हो जाएगा । उसने जवान बेटे को क्यों उठाया । टैम तो बूढ़े का था । पता नहीं क्या मंजूर है उसे । अभी लड़का पांच महीने पहले तो दूल्हा बना था । बहू के हाथ की पकी-पकाई दो जून की रोटी तो मिलने लगी थी ।

पंडित जी दिन में शिव पुराण और रात को नासिकेत पुराण की कथा बांचते हैं । कथा-श्रवण से उपलब्ध पुण्य बटोरने सारा गांव उमड़ पड़ता है । बच्चे, जवान, स्त्रियां, पुरुष, बूढ़े···

सभी ! पर ठीकरा के पहरे में कोई नहीं बैठता। टपकते पानी में कोई रात काटे तो कैसे। सब लौट जाते हैं, अपने-अपने घर और मंगतू को अकेले काटनी होती है लम्बी रात। बहू की ऊमर ही क्या है जो उसे कहे तू रात-भर जाग ले। कम अभागी है जो भरी जवानी में विधवा हो गई। हाथ की मेहंदी का रंग भी तो न उड़ा था।

गीदड़ों की हुंकारें निकट आ गयीं तो मंगतू ने जान लिया कि रात का आधा पहर बीत गया। संसार गहरी नींद सो रहा है। दिन से ही बारिश हो रही थी। बहू को बैठे-बैठे नींद के हिलोरे आने लगे थे। वह धीरे से बोला, "बहू, तू सो जा। बाकी की रात मैं काट लूंगा !"

वह जैसे यही सुनने के इन्तज़ार में थी। गीली मिट्टी के फर्श पर पसर गयी, "बापू ! ज़रा ठहर कर मुझे उठा देना, फिर आप पल-भर आंख झपका लेना।" पर मंगतू जानता था निगौडी नींद अपना समय पूरा करेगी ही। मौत और नींद से कोई कैसे बचे। यह भी कोई अपने हाथों की बात है। फिर भला साध को वह मरने ही क्यों देता !

मुर्गे की पहली बांग और मंदिर की शंखध्वनि लगभग इकट्ठी हुयी थी। रत्नों हड़बड़ा कर उठ बैठी, "अब आप कमर सीधी कर लो बापू।"

स्नेहिल नेत्रों से मंगतू ने इस अबोध बालिका को देखा। बावरी है, भला बुड्ढों को भी नींद होती है। जीवन रोकर ही तो काटा है। अब चंद रातें जागते कट जाएं तो क्या फर्क पड़ता है।

कमरे में सन्नाटा गहरा गया। मरियल-सी लौ थी ठीकरे के दीपक की। मंगतू ने उलझी मूंछों पर हाथ फेरा। सिर पर धरे गमछे को कमर के गिर्द लपेटा और दीवार से टेर लगा दी। उसकी कमर का दर्द बता रहा था···अब वह बुढ़ापे के जाल में फंस गया है नहीं तो 'गहाल' पर कई-कई रातें गप्पें हांकते न कट जाती थीं। मजाल जो कभी दर्द महसूना हो। हां बड्डी के मरने पर ऐसा ही कुछ दर्द ज़रूर जागा था !

गांव में चर्चा का विषय मिल गया।

"दिल्ली आ रा प्रोफेसर आई रा···इक मेम भी है साथ।" मेम साड़ी बांधती हैं। पेट और बाज़ू बिल्कुल नंगे हैं। सिर पर पल्लू नहीं है। किसी बड़े-बूढ़े की शर्म नहीं मानती। मंगतू की भी नहीं। शहर की है गांव के रिवाज क्या जाने। नाक तो हर घड़ी चढ़ी हुई रहती है।

बिरजू ने उसके लिए पालकी का इन्तजाम कर घर पहुंचाया। पैदल चलना तो जानती ही नहीं। जब भी चलती है तो बिरजू की बांह पकड़ कर···दैया-दैया···कैसी बेसरमी है। मर्द का बाजू सरेआम पकड़कर चलना···गम्भो तो कह रही थी बिरजू से आगे भी चलती है। दोनों इकट्ठे बैठकर एक ही थाली में खाते हैं। जूठे बर्तन बिरजू उठाता है। कहते हैं साफ भी करता है।

स्त्रियां-बच्चे, सभी छिपते-छिपते उन्हें देखने की कोशिश में रहते हैं। बहुतों ने देखा बिरजू चमच से खुद खाता है फिर मेम को उसी चमच से खिलाकर, दोनों हंस पड़ते हैं। रत्नों घूंघट काढ़े खड़ी थी वहां···मर गया मंगतू···सामने बैठकर यह सब देखना बाकी था, इसीलिए जी रहा था। लड़का कम पढ़ा-लिखा होता तो कहीं नज़दीक कलर्की करता। किसी अच्छे वंश की बहू लाकर घर-बार, जगह-ज़मीन संभालती। आज बड्डी जिन्दा होती तो देखती, अपनी आंखों से

क्या घट रहा है उसके घर में···बड़ी इठलाती थी···"उसका बिरजू प्रोफैसर हो गया·· अब सब अपने कलेजों को ठंडा करो।" प्रोफैसर क्या हुआ धोबी का कुत्ता हो गया। घर का न घाट का ! सुना है मेम दिल्ली में मास्टरनी है। नौकरी करने जाती है। मर्दों के बराबर कुर्सी पर बैठती है तो शर्म-हया कहां होगी भाई !···ऊई ! पेट तो नगारे जैसा है···पर है बिल्कुल गोरी-चिट्टी। देखने में बहुत सुन्दर है। जैसे दूध से नहाई हो···वहां कौन से खेत में काम करती है, जो रंग काला हो जाएगा। टोना-टोटका भी जानती होगी। बिरजू के सिर में ज़रूर कुछ डाल दिया होगा। तभी तो उसके वश में हो गया है। मर्द ही नहीं रहा।

परसों शाम को दोनों रीहढ़ी की तरफ चढ़ गए थे। भैंस की तरह हांफती मेम ढलान चढ़ तो गयी पर उतरती बार टांगें थरथराने लगीं उसकी। जो बैठ गयी तो फिर बिरजू को पीठ पर उठाकर लाना पड़ा निगोड़ी को।

बहुएं सोचतीं, उनका भी क्या जीना है। दिन-भर गधे की तरह बोझ ढोना, सास-ससुर की गाली-गलौच सुनना और मर्द के दो बोल सुनने के बजाए उसकी लात-मुक्की के लिए तैयार रहना। बस···पिछले ही साल प्रेमे की अम्मां ने बहू की जुबान गर्म चिमटे से खींच ली थी। कोई नयी-नवेली सास के सामने खसम से हंस कर तो बोले भला ! कौन झेलता है इतनी बेशर्मी। आंख का पानी मर तो नहीं गया है, प्रेमे की अम्मां तो आज भी कहती है···बिरजू बड़ा होगा दिल्ली में। वे अपने रीति-रिवाज़ क्यों छोड़ दें। बड़ा ले आया मेम की जात। गांव की बहुओं को अब नखरे सिखाएगा ! पर वे क्यों पैर की जूत्ती को सिर पर उठा लें। यह दुष्कर्म बिल्कुल न चलेगा गांव में। मंगतू के घर जो हो। आज बड्डी ज़िन्दा होती तो घर में न बढ़ने देती बिरजू को। मंगतू तो मुआ बैल है। धर्म क्या जाने। पता नहीं मेम की जात क्या है। चमारियां-लुहारियां कौन से कम टांस-मांस करती हैं। ब्राह्मण की जात है, उन्हें कौन घर में घुसने दे। विवाह ही न होता होगा निगोड़ी का, फांस लिया बिरजू को।

मंगतू को आशा हो गयी कि बिरजू के आ जाने से छत नहीं टपकेगी।

मेम बहू ने घर में जो कदम रखा तो जैसे इन्द्र देवता रूठ ही गए। भादों में लू चलने लगी। खपरैल बदलने का ख्याल रहा भी तो केवल मंगतू के दिल में। जुबान पर न आया। दीया भभकने लगा। तेल की खपत बढ़ गयी और देखते ही नौ दिन बीत गए।

दसवां दिन जात-बिरादरी की पातक से मुक्ति का दिन था। पर लम्बे इन्तज़ार के बाद भी बिरादरी नहीं आई। घर में मेम ससुर के सामने खाट पर पसर जाती है। कोई कैसे आए। ओछी जात होने का भय ऊपर से। मंगतू हाथ जोड़कर बारी-बारी सब द्वारों पर गया। पर स्त्रियों के सिवा कोई घर पर न मिला। कोई खेत में था, कोई हाट-दुकान गया था। किसी की तबीयत खराब थी, बिस्तर कैसे छोड़ता। सब टाल गए।

हां, उपरली ताई ने खरी-खोटी सुना दी, "मंगतू ! तू मर्द की जात नहीं। तेरे कहने में तो लड़के भी नहीं हैं। भादर ने जुलाही घर बिठा ली तो बड्डी बिरादरी पर टूट पड़ी थी। फिर भी भादर ने जब घर छोड़ दिया तो हम बड्डी के मरण पर तेरे घर आ गए। साध के ब्याह पर भी आ गए थे। अब बिरजू पता नहीं किस जाति की मेम घर ले आया···हम अपना धर्म भ्रष्ट क्यों करें। नहीं आ सकते तेरे घर।"

मंगतू निर्वाक रह गया।

बिरजू की देवी-सी बहू पर लांछन। अब तो बेचारी उस जैसी ठूंठ, अनपढ़, गंवार की कितनी इज्जत करती है पढ़ी-लिखी होकर भी। ताई को आश्वस्त करने लगा, "ताई, मैंने बिरजू से आते ही पूछ लिया था। शुद्ध बिराहमनी है · नहीं क्या मैं उसे घर के अन्दर आने देता। भादर की बात छोड़ो। वह तो औरत को लेकर परदेश में है। तुम सब लोग चलो। बिना बिरादरी धर्म-कर्म में कहां गति मिलेगी···।"

मंगतू झूठ नहीं बोलता। बिरादरी उसकी जुबान का विश्वास मानती है।

पातक से शुद्धि चल रही थी। बिरादरी शुद्ध होने आ पहुंची थी, पर तभी भादर आ पहुंचा। नीमो बच्चा उठाए उसके पीछे-पीछे चल रही थी। गर्म तेल की कड़ाही में जैसे पानी का गिलास उंडेल दिया गया हो। ताई की आवाज "कडैं···ऐं···ऐं···' की तरह तीखी थी, "मंगतू! तेरे कहने पर हम आ गए थे। अब भादर और नीमों को अन्दर आने दिया तो कोई बच्चा भी यहां न टिकेगा। फैसला कर ले जल्दी।"

मंगतू की आंखें पथरा गयीं।

दिल उछल कर बेटे को आगोश में भरने के लिए आतुर था। पोते का चुम्बन लेकर नाच पड़ना चाहता था, पर···बिरादरी का विंज।···हाय! वह क्या करे! ऐसे मौकों पर बड्डी की बुद्धि एक दम काम करती थी। वह तो बौखला जाता है।

वह असमंजस में ही था कि बिरजू भभक उठा, "क्यों न आए भादर अपने घर? उसका भाई मर गया है और उसे अन्दर आने की इजाजत भी नहीं है। वाह! ऐसी क्या बात है···"

पल-भर को सन्नाटा छा गया।

तेज तर्रार ताई की जीभ तालू से नहीं छूटी पर अबकी हीरा चाचा की मरियल आवाज़ आने लगी, "वह आए। भाई! उसका घर है। हमारा उस पर क्या वश?···पर वह अन्दर और हम बाहर! जुलाही के घर हम न आएंगे, क्या जोर-जबर है किसी का।"

सब उठकर चल दिए।

भादर और बिरजू आपस में लिपट कर रोने लगे। नीमों चीखने लगी। मंगतू ने अपनी आंखों में उमड़ते सैलाब पर कठिनाई से काबू पा लिया पर उसका गला सूज गया। लगा यह फट पड़ेगा और खून की धारा बह निकलेगी। अनीता भरी आंखों से देख रही थी। इतना निश्छल प्रेम···। सबके अन्तर में एक शून्य था जो तूफान बनकर आंसुओं की धारा के रूप में निरंतर बह रहा था।

मंगतू के गले में दर्द हो रहा था। आंखों की नमी पर पूरा काबू वह भी न पा सका।

रात देर तक दोनों भाई बातें करते रहे। बचपन की स्मृतियों में डूबे हुए एक अदृश्य चलचित्र दोनों को ही आधी रात तक दीखता रहा। अनीता और नीमों खुर्राटे भर रहीं थीं। कमरे के एक कोने में दुबका मंगतू सोने का स्वांग कर रहा था। पुत्रों की आत्मीयता के सागर में कितनी ही देर हिलोरे लेता रहा। जाने कब उन्हें नींद आ गयी और वह अतीत की पगडंडियों पर लौट चला।

बापू की याद है उसे।

दस बरस का था। बापू मंजे पर सोया-सोया चिल्लाता रहता था। 'हाय अम्मा'··· 'हाय बाबा'···'हाय'···'हाय'···। मंगतू को नींद आ जाती थी। कभी ताई मकई की रोटी का

एकाध टुकड़ा उसे दे जाती तो खा लेता, नहीं कच्चे चावलों की मुट्ठी-दो-मुट्ठी फांक कर सो रहता। बापू तो कुछ नहीं खाता था।

एक सुबह वह जागा तो बापू चुपचाप सोया था। उसने समझा बापू ठीक हो गया। बापू ! बापू ! पुकारा पर बापू आंखें खुली होने पर भी कुछ न बोला। आंखें झपकना भी उसने बन्द कर दिया था। वह फिर पुकारने लगा, "बापू ! बापू !" तभी हीरा चाचा कहीं से आ टपका। उसने गौर से बापू को देखा और उसकी बांह पकड़ी। फिर मंगतू की तरफ देखकर बोला, "ऊंचे-ऊंचे रो वे मरदूद ! मर गया तेरा बापू···तुझे रोता सुनेंगे तो गांव वाले आ जाएंगे। शमशान पर 'दाग' देने ले जाना पड़ेगा। जल्दी कर, बाहर जाकर ज़ोर से रोना शुरू कर।"

मंगतू हतप्रभ कभी बापू की खुली आंखों को देखता तो कभी हीरा चाचा को···"अबे ! देखता क्या है···पुकारना शुरू कर।" और दस वर्ष के बच्चे के मुख से एक लम्बी चीख निकल गयी···"बा···पू !"

फिर वह लगातार रोता ही रहा।

शमशान से लौटा तो घर सूना था। लोगों के घर में उनकी अम्माएं हैं। उसके वह भी नहीं। बापू बोलता था सुरग को गयी हैं। कहीं बापू भी सुरग को न चला गया हो तो अब उसे इस घर में अकेले रहना पड़ेगा। कहते हैं सुरग से वापस कोई नहीं लौटता। तो अब उसे इस घर में अकेला रहना पड़ेगा। वह फूट-फूट कर रोने लगा। लोगों ने उसके बापू को जला दिया। अब प्यार से उसे कौन चुप कराएगा।

फिर एक लम्बी राम-कहानी शुरू हुई। कभी किसी घर की देहरी पर धक्के खाए तो कभी किसी चौखट पर नाक रगड़ी। यहां-वहां टुकड़े खाकर पलता रहा। सब गालियां ही देते थे। जन्मते ही अम्मा को खा गया। दस बरस में बापू को भी। उसकी समझ में तो नहीं आता कैसे खाए उसने अम्मा और बापू। वह तो चाहता है उसके घर में भी अम्मा-बापू हों, पर वे तो उसे छोड़कर सुरग को चले गए। उसे सुरग का रास्ता मालूम होता तो घड़ी-भर यहां न रहता। लोगों की दया पर जीना बड़ा मुश्किल है। लोग बड़े खराब हैं। उससे काम करवाते हैं। डंगर चरवाते हैं, गोबर उठवाते हैं। पर पेट-भर खाने को नहीं देते। कहते हैं उसके पेट में कीड़ा है। तभी तो उसका पेट नहीं भरता। भला कीड़ा पेट में होता तो वह उसे ही न खा लेता। उसकी तो भूख ही खत्म नहीं होती और ये लोग गालियां देते नहीं अघाते। डांटते फटकारते हैं। क्या ताई, क्या हीरा चाचा, तो क्या झमकू ताऊ ! सब-के-सब उसे ऐसे देखते हैं जैसे वह आदमी ही न हो। बापू ने तो उसे कभी गाली ही न दी थी, चाहे वह जितना मर्जी खा लेता। उसने तो कभी नहीं कहा पेट में कीड़ा है। झूठ बोलते हैं। शायद उसे डराते हैं ताकि वह ज्यादा न खा ले।

हीरा चाचा 'गहाल' को जा रहा था। सुना है 'गहाल' में ठेकेदार रोटी तो पेट-भर कर देता है। और दो टैम गर्म चाय भी पिलाता है। लकड़ी के सलीपर पानी में गिराने हैं और उन्हें देखते, नदी के साथ-साथ आगे चलना है···बस ! कहते हैं ठेकेदार के पास रुपये के बड़े-बड़े संदूक भरे पड़े हैं। कोई काम करे, न करे, पैसा सबको बराबर मिलता है। छोटे-बड़े का कोई फर्क नहीं है। ठेकेदार किसी को गाली तो कभी देता ही नहीं।

सहमते हुए उसने चाचा से कह दिया। यूं तो वह डांट-डपट के लिए तैयार था पर उलटा हुआ। चाचा उसे ठेकेदार के पास ले गया। फिर 'गहाल' का जो चक्र चला तो हर वर्ष

जाने लगा। काम चाहे कठिन था पर पेट खाली नहीं रहता था। पैसे भी मिलते थे। गाली भी न सुननी पड़ती थी। परदेस में बापू की याद भूल गयी। नदी किनारे भांग खूब मिलती थी। रात को महफिलों में रंग जमने लगा। दिन की थकान यूं मिटती जैसे कुछ किया ही न हो।

सतलुज नदी बड़ी प्यारी लगती थी। अथाह पानी का बोझ समेटे पहाड़ी चट्टानों को काटती-फांदती दौड़ती जाती थी—अबाध, निरंतर। कितनी ठंडक पहुंचती थी दिल को, उसके पानी को छूते ही।

मंगतू ने एक लम्बी जमुहाई ली।

घर-बार, जगह-ज़मीन देखकर लालाराम ने अपनी लड़की उसे दे दी थी। घर बस गया था। बिरादरी तो तब भी नाराज़ हुई थी कि भारद्वाज गोत्री ऊंचे ब्राह्मण होकर छोटी जात के कनैत की लड़की ब्याह कर बिरादरी की नाक कटवा दी। पर वह मन-ही-मन खुश था। चलो ब्याह तो हुआ। बड्डी सब भाई-बहिनों में सबसे बड़ी थी। काम-काज, बोल-चाल में तेज तर्रार! चिड़िया की तरह उसने घोंसला सहेज लिया। इतना कि बिरादर लोग खार खाने लगे। थी बड़ी जानदार औरत। भूखी सो गयी, नंगे बदन ठिठुर ली पर किसी के आगे हाथ न फैलाया। उमर कट गई इस झोंपड़े में। दादा-परदादा की इस विरासत में परिवार खूब फला-फूला। बिरजू पैदा हुआ तो उसका मुंह देखकर छाती गज-भर की हो जाती थी। फिर बारी-बारी से भादर, बसंता···साध!

मन बसंता पर अटक गया। कहां होगा बेचारा! कैसे विछुड़ गया सारा परिवार। जिगर के टुकड़े-टुकड़े हो गए। बड्डी ही न रही। जवान साध साथ छोड़ गया। बिरजू और भादर तो चलो अच्छे हैं। जहां कहीं रहते हैं, सुखी रहें। ब्याह-शादियों वाले हैं, पर बसंता···जाने कहां खो गया दुनिया की भीड़ में। मूर्ख निकला। ऐसे भागने की जरूरत क्या थी। गलती तो आदमी हज़ार बार करता है। जग की शर्म आदमी को नहीं मारती पर अपनी शर्म से गड़ जाता है आदमी।

भादर ने नीमों को घर बिठा लिया।

अंधेरा होने पर बड्डी और मंगतू खेत से लौटे तो आंगन में सिसकने की आवाज सुनाई देने लगी थी।

"कौन है भीतर, रे?" कुछ उत्तर न पाकर बड्डी भीतर गई तो कमरे का अंधेरा जैसे खुद सिसक रहा था, "कौन है, रे!···बसंता, साध···कहां हो तुम सब?"

तभी किसी कोने से भादर की आवाज आई, "अम्मा! नीमों है।"

बड्डी की आंखें अंधेरे में फैल गयीं, "नीमों?" भगतू जुलाहे की जाई।···पर हमारे घर क्यों घुसी है?

बड्डी जानती थी भादर और नीमों के चर्चे कुछ दिनों से फैल रहे थे। पर···अपनी जिज्ञासा स्वयं उसकी समझ से बाहर थी···नीमों उसके घर कहीं बैठ तो नहीं गयी?

भादर शायद उसे बिठाकर भागना चाहता था पर उसने जो टांग पकड़ी तो भादर का पुरुषत्व भी हार गया। उसकी झल्लाती आवाज ने स्थिति स्पष्ट कर दी, "अब तो टांग छोड़ दे ···अम्मां को कुछ बताऊं!"

तब तक बड्डी समझ चुकी थी। भादर उसके करीब आकर चिरौरी करने लगा, "अम्मां, नीमों का पैर भारी है, अब उसका कौन है भला, मेरी अच्छी अम्मां, तू उसे अब घर से तो न निकालेगी न ! बड्डी लड़के को नासमझ समझे थी पर वह तो सयाना निकला। पैर भारी का अर्थ भी समझता है। जुलाही उसके घर को अपवित्र करे, वह कैसे गंवारा करती। कुड़कुड़ाने लगी, "तुझे जुलाही ही रही रे ! सारा संसार मर गया क्या···?"

भादर ने उसका मुंह हाथ से बन्द कर दिया, "अम्मां ! अब यह तेरी बहू है, नहीं सोच ले मैं तेरे लिए मर गया···इसको लेकर परदेश चला जाऊंगा।"

बर्फ़ की सिल क्षणभर में पिघल गयी, "नहीं रे नहीं ! बिरजू दस जमातें पढ़कर जो परदेश गया तो लौटकर न आया। अब तुझे क्यों भटकाऊं। तेरी दिल्लगी है तो मेरी बहू हो गयी। तू यहां आराम से रह, तेरा घर है···कुण निकाली सकां तिजो घरा ते···दोनों रहो।" भादर अम्मां से लिपट गया, "मेरी अच्छी अम्मां।" तभी दरवाज़े पर खड़े मंगतू ने शंका व्यक्त की—"बिरादरी विंज डालेगी पागलो ! अच्छूत कर देंगे ! कैसे रहोगे गांव में ?"

बड्डी का ममत्व फड़क उठा, "बिरादरी···बिरादरी !···बिरादरी देती है हमें रोटी, खुद कमाएंगे तो खाएंगे। बिरादरी जाए भाड़ में। जिसने आना हो आए, जिसने जाना हो जाए। मैं क्यों अपने बहू-बेटे को देश निकाला दे दूं···हूं !"

मंगतू निरुत्तर !

ठीक ही तो कहती है बड्डी। अपने जिगर का टुकड़ा बाहर फैंक दें ?

प्रातः सारे गांव में जंगल की आग की तरह खबर फैल गयी कि भादर ने नीमों को रख लिया। सबके दांतों तले उंगली दब गयी।

बिरादरी की चौधर बैठी।

मंगतू की जवाब-तलबी हुई कि उसके बेटे ने क्यों जुलाही घर बैठा रखी है ?

मंगतू शून्य आंखों से देखता रहा।

"जवाब दे मंगतू," झमकू ताऊ ने उकसाया कि बड्डी बरस पड़ी, "क्या जवाब मांगते हो ?" नीमों क्या आदमी की जात नहीं है ? कान खोलकर सुन लो वह अब मेरी बहू है। खबरदार ! जो उसके खिलाफ कुछ कहा तो जीभ निकाल लूंगी। सबके लच्छन मैं जानती हूं कि किस के घर के पर्दे के पीछे क्या होता है। दूसरों पर उंगली उठाने से पहले अपने घर के अन्दर तो झांको चौधरियो···! हमें अपने हाल पर छोड़ दो···भूखे-प्यासे रह लेंगे पर तुम्हारा द्वार न देखेंगे।"

बिरादरी ने अलग कर दिया···'विंज' डाला···हुक्का-पानी बन्द।

"तूने कुछ ज्यादा ही सख्त बोल दिया," घर आकर मंगतू कहने लगा तो वह धमकी—"क्या सख्त बोल दिया···मुंह न नोंच लिया उन सबका···शुक्र करो।"

मंगतू गांव के चबूतरे पर लोगों को गप्पें हांकते और हुक्का गुड़गुड़ाते देखता तो मन होता घड़ी-भर वह भी महफिल में बैठे। दिल हुलसाकर रह जाता।

एक दिन चल ही पड़ा। उसे आते देखकर सभा झट से विसर्जित हो गई। वह कट गया। आह भरकर रह गया। कभी जाते हुए लोगों की पीठ देखता तो कभी खाली चबूतरा।

रात आधे से अधिक बीत चुकी थी।

सारा परिवार गहन निद्रा में था। मंगतू पेशाब के लिए बाहर आंगन में आ गया।

कितना नीरव है संसार स्वयं में खोया-सा।

उसका हृदय बसंते के लिए आतुर हो उठा। साध नहीं रहा तो बाकी सारा परिवार घर पर है आज। पर वह भाग्यहीन बसंता जाने कहां भटक रहा है…?

माथे पर कलंक लगाकर भागा था। नीमों पर पता नहीं, उसकी आंख कैसे मैली हुई। भाभी तो मां का रूप होती है। बुरे विचार कैसे आ गए उसके मन में…?

रात का अन्धेरा छाने लगा था। खेतों से न लौटे थे वे। बसंता ने देखा नीमों, अपने यौवन को छलकाती, सिर पर खाली मटका लिए पणिहांद की ओर जा रही थी। उसने हाथ दिया। नीमों ने सोचा देवर मजाक कर रहा है। हंसकर बोली, "क्या पागल हो गया है मेरा देओर!" मगर वह पास सटक गया—"नीमों, मैं तुझे प्यार…" लड़खड़ा रही थी उसकी जुबान। नीमों ने उसकी नीयत पहचान कर डपट दिया, "देओर। बदतमीजी करेगा तो हल्ला मचा दूंगी।"

और वह उसे धक्का देकर भाग खड़ा हुआ। मिट्टी का मटका फूट गया।

"बहू। तू घर के अन्दर चलते कैसे गिर गई? बड्डी ने पूछा तो नीमों टाल गई, "गीली मिट्टी पर पैर फिसल गया था" वह तो साध ने पूरी बात बताई। कहीं दुबक कर देख रहा था।

बसंता जो घर से भागा तो लौटकर न आया। न चिट्ठी, न पत्तर। जाने कहां धक्के खा रहा है, बेचारा।

मंगतू ने आसमान की ओर देखा।

तारे खूब टिम-टिमा रहे थे! चांद भी आज मुस्कराता-सा लगा। जरूर लौट आएगा उसका बसंता।

वह भीतर आकर पुनः बिस्तर पर लेटकर सोने की कोशिश में था।

पर नींद की जगह अतीत का चलचित्र लगातार चलता रहा। बिरजू नींद में खांस रहा था।

बिरजू की चिट्ठी आई थी पूरे सात साल बाद। दस जमातें पढ़कर जो घर से निकला तो खोज-खबर कुछ न दी। जाने कैसे-कैसे पढ़ा—पूरी सोलह जमातें पढ़कर…वह क्या कहते हैं …प्रोफेसर हो गया, दिल्ली में ही। तब जाकर चिट्ठी लिखी। दाढ़ी मूंछ वाले लड़कों को पढ़ाता है। बड्डी के पांव तो जमीन पर न पड़ते थे। मर्दों को सुना-सुनाकर औरतों से कहती, "विंज ले बिरादरी, मेरी बला से…। मेरा लड़का प्रोफेसर हो गया। मेरे दूध का असर है। एक-से-एक लायक जाये हैं। और तो किसी चौधरी का चपड़ासी भी न बना।" सुनने वालों को डाह होती। उनके टुकड़ों पर पले मंगतू का लड़का बड़ा आदमी हो गया। बड्डी की अकड़ तो अब टूटने से रही। नये उपाय खोजते पर वह उनकी छाती पर मूंग दलती ही रही।

भादर को बिलासपुर में नौकरी मिली तब तो बड्डी के और भी पंख निकल आए। अपने बेटों के गुणों का बखान करते न थकती थी। कहती बसंता भी नौकरी पर गया है। चाहे गांव में कहानी कही सुनी जाती थी कि उसने नीमों से हरकत की है और मारे शर्म के घर से भागा है। पर बड्डी के सामने ऐसा कहने की हिम्मत कौन करता।

भादर घर आया तो अम्मा, बापू, साध, नीमों सबके लिए कपड़े और जूते खरीद लाया। मिठाइयां भी खूब लाया था। गांव में खबर फैल गयी कि भादर मिठाई का टोकरा लेकर लौटा

है। खोआ-पनीर की मिठाई। जलेबी ऐसी कि मुंह में डालते ही पिघल जाए। चबानी तो बिल्कुल न पड़े। चौधरियों के मुंह में पानी आ गया पर विज से बंधे थे।

उपरली ताई आंगन में आकर बोली थी, "बड्डीए। सुणया तेरा भादर खूब मिठाई लई कने आईरा।"

बड्डी ने उसकी लालसा को हवा दी, "पूछ न, जी। क्या मिठाई···जी करता है बस खाते ही रहें। तुम्हें चखा देती पर तुम तो हमारे हाथ का पानी भी नहीं छूती हो—विज जो डाला है बिरादरी ने।"

ताई ने लार का घूंट भरकर होंठों पर जीभ फेरी, "मुऐ ए चौधरी। मैं तो नीमों को अपनी बहू मानती हूं।"

नीमो नया जोड़ा पहनकर बाहर निकली। ताई आंखें फाड़े कहे जा रही थी—"बोल भला, इसके माथे पर लिखा है कि यह बाहमनी नहीं--पर मैं अकेली भला क्या करूं?"

बड्डी ने बर्फी की डली लाकर ताई के हाथ पर रख दी। मुंह में डालते ही ताई हिलोरे लेने लगी, "तेरी किस्समत तेरे ही साथ है बड्डी।"

बड्डी का सीना फैल गया।

भादर घर पांच दिन ठहरा। जाने से पहली शाम बड्डी से बोला, "अम्मां। नीमों को मेरे साथ भेज दे।"

बड्डी ने आंखें तरेरकर उत्तर दिया,"परदेश में बहू को ले जाएगा। कहां, कैसे रखेगा। शहिर में खुली आबू-हवा भला कहां नसीब···।

भादर ने चिरौरी की, "अम्मां। तड़के काम पर जाना पड़ता है। रात को देर से लौटता हूं। रोटी-पानी का ठौर नहीं लगता। नीमों होगी तो पेट भर चैन से दो जून खा तो सकूंगा।"

बड्डी के दिल में प्यार की धारा बहती रहती थी। बाहर से जितनी कठोर थी, भीतर-से उतनी ही नरम। बादाम की तरह। झट पसीज गयी, "मुआ ! सच बोलता है। वहां कौन-सी अम्मां बैठी है जो प्यार से खिलाएगी। ले जा बहू को, पर देख इसको ठीक से रखना। देख-भालकर, शहिर के लोग अच्छे नहीं होते।"

सुबह भादर और नीमों चले तो आंखें पोंछकर बोली, "बसंता का भी पता करना किधर है मुआ। चाहे गलती कर दी थी पर अब पछता रहा होगा···है तो तेरा भाई ही। मिले तो कहना घर आ जाना। अम्मां याद करती है।" फिर मंगतू की ओर मुखातिब हुई, "तू जा इनके साथ। बस में बिठा आना। बहू-बेटा परदेश जा रहे हैं।"

मंगतू सामान उठाकर आगे चल दिया। नीमों ने भादर को डपटा, "बापू से सामान उठवाते तुम्हें शरम नहीं आती···" पर बड्डी ने टोक दिया, "परदेश जा रहा है, बहू, खाली ही चलने दे···"

वह उन्हें तब तक देखती रही जब तक वे दिखते रहे। फिर शून्य में भी देखती रही। जब साध ने टोका, "घर चल अम्मा, मुझे भूख लगी है" तो चौंककर, आंखें पोंछती हुयी मुड़ी।

घर आकर साध को लिपटा कर फूट-फूट कर रोने लगी।

उस दिन भाग्य बड्डी के आंचल में उतर आया था।

खेलते बच्चे संदेशवाहक बनकर भाग खड़े हुए। कोई पैंट बाबू गांव की तरफ आ रहा है। हाथ में चमड़े का बक्सा है। कंधे पर थैला लटका हुआ है। खूब गोरा-चिट्टा है। चेहरे पर हंसी तो कत्तई नहीं है। खुसर-पुसर होने लगी। जरूर कोई सरकारी अफसर होगा। कहीं पुलिस न हो। अब पुलिस भी बिना वर्दी आने-जाने लगी है। चोरों-डाकुओं को पकड़ने के लिए बहुरूपिया हो जाती है। नहीं वे पुलिस को आते देख भाग न खड़े हों। सब स्त्रियों ने अपने-अपने घर तहकीकात कर ली। किसी ने कहीं चोरी तो नहीं की। कहीं किसी से झगड़ा तो नहीं किया। आश्वस्त होकर खिड़कियों, दरवाज़ों, मुंडेरों पर से झांकने लगे। कौन बाबू है। तभी हीरा चाचा के मुंह से निकला, अरे, 'यह तो बिरजू लगता है। वही चाल-ढाल, वही नैन-नकश'''बिरजू ही है।" सब ने पहचान लिया।

बिरजू ही था।

सात वर्ष से ऊपर हो गये थे गए हुए को। कैसी शान से चल रहा है। कितना सुंदर दिख रहा है। कितना सामान लेकर आ रहा है। जरूर कपड़े और मिठाई लेकर आया होगा दिल्ली से। पर उन्होंने तो मंगतू पर 'विंज' डाला है। अरे, अब काहे का विंज ? भादर चला गया, नीमों घर नहीं। बड्डी कुछ देगी तो खाने में क्या हर्ज है। जमाना बदल रहा है।

सभी के मुंह से एक सर्द आह निकल गयी। वाह री किस्मत। क्या था मंगतू। क्या थे यह लौंडे। लोगों की पीछ पीकर जीते थे। टुकड़ों के लिए तरसते थे। बड्डी की नज़रें तो अब आसमान पर नाचेंगी। किसी को कुछ नहीं गिनेगी।

बड्डी दौड़ पड़ी। उसका बिरजू आ गया। उसने पांव छुए तो छाती से चिपटा लिया। फफक कर रोने लगी, "कहां रहा रे तू इतने दिन। पत्थर दिल हो गया था। अम्मां की याद तक न आई तुझे ?"

बिरजू की आंखों में भी पानी आ गया।

फिर वह पूरे गांव में गया। घर-घर। सब के पांव छुए। लोग कहते, "बिरजू। बड़े दिनों के बाद आया, तेरी अम्मां तो तेरे लिए बड़ी रोती थी।"

मंगतू ने उसे गले लगा लिया। पुत्र से लिपटे, उसके गले में दर्द महसूस हुआ। दिल उछलकर बाहर आने के लिए उतावला था। आंखों के पानी पर मुश्किल से काबू किया। मर्द भला कैसे रोए, उसकी मर्यादा औरत से बड़ी है। वह छिछौरा कैसे हो जाए।

मां-बेटा रात-भर न सोए थे। दुनिया भर की बातें। मंगतू पसरा-पसरा सुनता रहा जैसे आज भी काफी रात तक दोनों भाईयों को बतियाते सुनता रहा था।

बड्डी उसे बता रही थी नीमों को घर लाने पर बिरादरी ने उनके साथ क्या बद-सूलकी की थी, तो बिरजू बोला, "अम्मां ! तुने बहुत अच्छा किया। जात-पांत से जो ऊपर उठ गया वही आदमी है, नीमों भी तो किसी मां-बाप की ही लड़की है। उसे दुत्कार देती तो ज़िंदगी भर चैन न मिलता तुझे।"

बड्डी का मातृत्व छलक उठा था। पलट कर बोली, "रे बिरजू, तू कब करेगा ब्याह ? तेरी लाड़ी को देखने की बड़ी इच्छा है। पता नहीं अब कितने दिन जीना है। उसका मुंह देख लेती तो चैन से मौत तो आ जाती।"

"ऐसा क्यों बोलने लगती है, अम्मां ?

"तू बता रे, कब करेगा ब्याह ?"

"तू कहती है, तो जल्दी ही कर लूंगा।"

"सच रे।" उसका अन्तर छलक पड़ा था, "देख रखी है तूने कोई?"

बिरजू सकुचा रहा था, "हां, अम्मां।"

"कौन है रे वह?"

"अम्मां। दिल्ली में ही एक लड़की है। स्कूल में पढ़ाती है।"

"तब तो मेम होगी रे", बड्डी का गद्गद् स्वर संगीतमय हो उठा था।

मुंह-न्हेरे बड्डी ने उठकर आग जला दी।

गांव की स्त्रियां एक-एक कर आ रही थीं। क्या कुछ लाया बिरजू। बड्डी सबको एकाध टुकड़ा मिठाई और फल वगैरह दे देती। सुबह होने तक मर्दों का टोला मंगतू के पास बैठकर आंगन में चिलम का धुंआ उगलने लगा था। बिरजू के प्रभुत्व में 'विंज' जैसे बह गया। उसने भीतर आवाज़ दी, "बड्डी! भाई लोगों का मुंह मीठा करवा दे। बेटा इतने दिनों बाद घर लौटा है।" बड्डी खूब सारी मिठाई थाली में डाल लाई थी।

बिरजू ने दिल्ली महानगर में अपने अनुभव सुनाए तो सारे विभोर हो गए थे।

बिरजू ने महीना भर बाद लौटना था। बड्डी की खांसी को देखकर हद जोर देता रहा, तू दिल्ली चल पड़, वहां इलाज करवाऊंगा।" पर बड्डी न मानी, "तेरे बापू को छोड़कर कहां जाऊं···यह तो इतना सीधा है कि लोग मुंडी पर भी बैठ जाएं तो भी चुप रहे···साध अभी बच्चा है। घर-बार, जगह-ज़मीन किसके हवाले कर दूं।"

उसने जाकर ढेर-सी दवाईयां डाक से भेजीं। फलां गोली ऐसे खाना, फलां ऐसे। पर बड्डी ज़िद्दी थी। कहती थी सारी उम्र बिना अंग्रेजी दवाई के काट दी अब क्यों अन्त समै में धर्म-भ्रष्ट करूं। जितनी लिखी होगी जिएगी। भगवान ने उठाना होगा तो दवाई क्या बचा लेगी। उसने नहीं खाई। बिरजू की चिट्ठी आती— दवाई खाते रहना। और दवाई भेज देता तो लिखवा देती—"खा रही हूं···अब ठीक है और दवाई मत भेजना।" छाती का दर्द बढ़ गया था। खांसी से रात-भर चैन न आता। एक रात, खून की उलटी आई और सब छूट गया। मंगतू आंखें पत्थर हो गईं। अब ज़िन्दगी कैसे कटेगी। बड्डी के रहते तो कोई फिक्र न थी।

बिरजू रोता हुआ आया। भादर चीखता-चिल्लाता! नीमों का पैर भारी था। नौंवा चल रहा था। वह न आ सकी। धर्म-कर्म से निबटे तो बिरजू ने बापू से कहा था, "मैं कल जा रहा हूं···मेरे साथ चलो बापू दिल्ली। साध को वहीं पढ़ा लूंगा···अब यहां क्या रखा है।"

पर मंगतू न माना, "पुरखों की निशानी है, यहां पर। उनका बनाया यह घर, यह ज़मीन, यह विरासत। तेरी मां ने इसे ज़िन्दगी से सहेज कर रखा था। अब जब तक आखिरी सांस है यहीं काट दूंगा···मेरे लिए शहर में रहना यूं भी मुश्किल है···एक इच्छा थी— साध का ब्याह कर घर की चाबी बहू को संभाल देता तो फिर चैन की नींद सोता।" बिरजू साध के ब्याह में नहीं आया था। रुपये भिजवा दिये थे।

भादर आया था। नीमों का बच्चा अढ़ाई महीने का था वह नहीं आई। शायद इस डर से कि उसके जाने से कहीं बिरादरी ब्याह में दखल न कर दे। साध की बहू ने घर में पैर रखा और मंगतू ने चाबियां उसके हवाले कर दीं थीं।

ईश्वर को न जाने क्या मंज़ूर है। छः महीने में ही साध उसे प्यारा हो गया। उलटियां और दस्त जो चिपटे तो जान लेकर ही छूटे। डॉक्टर ने कहा—"हैज़ा मार गया। वक्त रहते

पहुंचता हस्पताल तो शायद बच जाता।" पर कहने की ही बात है। मरना-जीना क्या आदमी के हाथ है?

वह तो चला गया पर इस जवान बहू का क्या होगा? सोचते-सोचते कब आंख झपकी, उसे नहीं मालूम। प्रातः आंख खुली तो दिन चढ़ गया था।

साध के धर्म-कर्म से मुक्ति मिल गयी थी।

सांझ को सारा परिवार इकट्ठा बैठा था। विरजू ने मंगतू से कहा, "बापू। अब छोड़ो यह जंजाल। सीधे दिल्ली चलो। वहां आराम से रहो। यहां अब क्या है? अनीता ने समर्थन किया, "आप पर हमारा भी तो अधिकार है, बापू!"

भादर और नीमों ने बिलासपुर के लिए कहा पर मंगतू ने बोझिल स्वर से उत्तर दिया, "तुम ठीक कहते हो पर अब तो साध की बहू की जिम्मेदारी भी मुझे ढोनी है!"

अनीता ने ससुर की बात का निराकरण किया, "रत्नों को तो हम साथ ले जा रहे हैं। सोलह वर्ष की बच्ची है···पढ़ा-लिखा कर कहीं ठौर पर पहुंचाएंगे इसे···आप अपनी चिन्ता करें।"

"बापू! सीधे हमारे साथ चलकर अब पूजा-भजन करो," बिरजू ने जोड़ा।

"तुमने ठीक सोचा मेरे बेटे," मंगतू प्रायः रुआंसा होकर बोला, "इस बेचारी का तुम्हारे सिवा अब था ही कौन···। मेरी बात छोड़ो। चल भी पड़ता पर सोचो पीछे कहीं भटका हुआ बसंता घर आ गया तो क्या देखेगा। अब कम-से-कम उसके लिए तो मुझे यहां रहना पड़ेगा··· भोला आदमी है, आएगा ज़रूर···।"

तूस की आग की तरह खबर गांव में फैली। साध की बहू को बिरजू दिल्ली ले जा रहा है। बिरादरी की भौंहें चौड़ी हो गयीं। बिरजू को इतना खोटा न समझते थे जो बेटी समान भाभी पर आंख मैली करता। घोर कलियुग आ गया है। अब दो रखेगा, एक शहरी मेम, एक गांव की उल्हड़ छोकरी!

मंगतू को बिरादरों ने खूब फटकारा, उसके पास बैठकर हुक्का पानी पीना भी पाप है। विज पूरा हो गया।

बिरजू चुप था।

अनीता, रत्नों, नीमों और भादर रो रहे थे। मंगतू के गले में दर्द था पर आंखें सूखीं थीं। भादर का मुन्ना टुकर-टुकर देख रहा था।

बस आकर रुकी।

नीमों, रत्नों, अनीता बारी-बारी बस पर सवार हुए। भादर आंखें पोंछता चढ़ा और अंत में बिरजू भी। मंगतू ने सामान छत पर रख दिया और बस चल पड़ी।

मंगतू ओझल होने तक बस को देखता रहा।

उसके गले में सूजन का दर्द लगातार बढ़ता जा रहा था।

[जिला खाद्य व आपूर्ति नियंत्रक, मुख्यालय, शिमला-171001]

दुविधा

□ यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'

उसे लगा कि वह पीड़ा की एक पिंड मात्र हो गयी है। उसका रोम-रोम सुलग रहा है और शरीर की शक्ति को किसी अदृश्य जोंक ने चूस लिया है। वह निर्जीव-सी पड़ी रही।

चादर में सलवटें पड़ गयीं थीं। तकियों के गिलाफ अस्त-व्यस्त हो गये थे और उसके चेहरे पर एक अजीब व्यथा झलक रही थी। उसकी आंखें पीड़ा के कारण गहरी, बहुत गहरी लग रही थीं।

वह कमरे में अकेली थी और सन्नाटा उसके चारों ओर इस तरह बैठा, मानो उस दुखियारी को सहला रहा हो। खिड़कियां बंद नहीं थीं पर पर्दे अच्छी तरह लगे थे। उन पर्दों के बीच-बीच से धूप छोटे-छोटे टुकड़ों के रूप में घुस आयी थी।

पलंग के पास रखी मेज़ पर एक फ्रेम में जड़ी उसकी और उसके पति गोकुल की तस्वीर पड़ी थी। विवाह की तस्वीर ! आपस में एक-दूसरे से सिर छुवाए। मुस्कानों में डूबी।

ये उसके अनुपम यौवन के दिन थे।

उसे अच्छी तरह याद है कि उसका शरीर अजन्ता के भित्ति चित्र की नारी जैसा था। रंग गोरा और सर्वस्व आकर्षक !

और उसका पति उसके रूप यौवन में खो गया था। उसे याद है कि सुहागरात को उसका पति जब उसके कमरे में घुसा तब कोई विशेष बात नहीं हुई थी। मध्यम श्रेणी की उसकी ससुराल थी। न पलंग के चारों ओर फूल-मालाएं, न इत्र और न सुवास ! न खिड़कियों पर नये पर्दे ! न कमरे में तैरता हुआ धीमा प्रकाश। सिर्फ चादर साफ थी। वह भी सफेद नहीं, जबकि उसे रात को सोने के लिए सफेद चादर ही पसंद थी।

उसका पति रात को लगभग ग्यारह बजे आया था। उस समय तक उसके पास उसकी अनपढ़ व फूअड़ ननद बैठी थी। कुंवारी थी, पर दाम्पत्य जीवन की बातें घुट-घुटकर कर रही थी। उसकी सास को लड़कियों की शिक्षा पसंद नहीं थी। एक दफे तो यह भी कारण बन गया था कि कि लड़की मैट्रिक पास है, इसलिए यह रिश्ता न किया जाय ? किन्तु उसके पति गोकुल को अनुभा बहुत पसंद आ गयी थी। उसने हठ पकड़ लिया था कि शादी अनुभा से ही करेगा। परिणाम यह हुआ कि अनुभा इस घर में दुल्हन बनकर आ गयी। हर दुल्हन की तरह हज़ारों सपने संजोये।

गोकुल उस समय क्लर्क था।

संवेदना से दूर वह सिर्फ परिपाटी का जीवन जीना जानता था।

वह उसके कमरे में आया। उसकी ननद चली गयी। कमरे में एकान्त पसर गया। पता नहीं, किन संस्कारों से अभिभूत अनुभा ने अपने चेहरे को घूंघट से ढंक लिया। उसे रोमांस हो आया था। उसे एक चलचित्र का वह दृश्य याद आ गया जब नायिका अनुपम शृंगार करके सुहाग-शय्या पर बैठी थी। उसने झीनी साड़ी पहन रखी थी। उसकी बड़ी-बड़ी आंखें प्यार का अंगार बसाये हुए सहम रही थीं।···पर उसकी सास ने उसे आज झीनी साड़ी नहीं पहनायी। वह ऐसी साड़ी में सज्जित थी जिसमें से उसकी बड़ी-बड़ी आंखें नहीं झांक सकती थीं।

वह आया। उसने आते ही दरवाज़ा बंद किया। उसके पास बैठता हुआ बोला, "पीने का पानी लायी हो?"

···वह कुछ बोली नहीं बल्कि अपने आपमें कुछ और सिकुड़ गयी।

'अरे! तुम बोलती क्यों नहीं?'

वह फिर भी नहीं बोली।

गोकुल ने उसका घूंघट हटा दिया। वह सिहर गयी। एक पुलक की लहर उसकी नसों में दौड़ गयी।

गोकुल उसे मंत्रमुग्ध-सा देखता रहा।

वह लज्जा गयी। उसने पलकें झुका लीं। हठात् उसकी इच्छा अपनी हथेलियों से चेहरा ढंकने को हुई। ऐसे ही ढंका था उस नायिका ने। पर वह ऐसा नहीं कर सकी क्योंकि गोकुल ने उसके दोनों हाथों को अलग कर उसके चेहरे को ताबड़-तोड़ चूमना शुरू कर दिया था। वह एक ही वाक्य तोते की तरह रटता रहा—तुम कितनी सुन्दर हो?···तुम कितनी सुन्दर हो···और उसके कोमल मन को लगा कि कोई हिंस्त्र जानवर उसको दबोच रहा है। उसे काट रहा है। उसे लगा कि वह सहसा अपने आपसे अलग हो गयी है। उसका मन उसके शरीर से अलग हो गया है। उसकी जगह कोई और आ गयी है—एक नयी अनुभा!

और यह सिलसिला पूरे एक माह चला। एक माह के बाद उसे महसूस हुआ कि वह औरत नहीं, केवल भोग की वस्तु है। उसकी इच्छा की कोई कीमत नहीं। यह सब वासना का खेल है।

महीने-भर बाद वह अपने मायके आयी। उसकी सहेली कमू ने पूछा, 'अनुभा! तुम इतनी थक कैसे गयीं? तुम्हारे चेहरे का गुलाबी-पन कैसे मिट गया? तुम पीली-पीली क्यों लग रही हो?'

वह कुछ नहीं बोली। वह सिर्फ रोती रही।

'बात क्या है?' उसने उसे झिंझोड़ा।

'बात यह है कि मां-बाप सिर्फ खानदान देखते हैं? मैं इस पति को प्यार नहीं कर सकती।' उसने वाक्य को उगला।

'क्या कहती हो?' कमू की आंखें विस्फारित हो गयीं।

'ठीक कहती हूं कमो, मैं इस पति को नहीं चाह सकती। मैं अब वहां कभी नहीं जाऊंगी!'

कमू की आंखें विस्फारित की विस्फारित ही रहीं। उसकी भावभंगिमा से ऐसा लग रहा था कि उस पर कुछ अनहोना घट गया है। वह अपने शब्दों पर जोर देकर बोली, 'तुम वहां नहीं जाओगी···तुम्हें अपनी ससुराल पसंद नहीं, पति पसंद नहीं। अनुभा, तुम्हारा माथा खराब है?

तुम क्या उगल रही हो, इसका ध्यान भी है? जानती हो, अपने पिता को, आधा गुंडा है।''' सोचती हो, अपनी दोनों बहिनों के बारे में'''सब कुछ अस्त-व्यस्त हो जायेगा। वहां का जीवन और यहां का जीवन! तुम्हारे खानदान को लोग अंगुलियां दिखायेंगे और तुम्हारी बहिनों की ज़िंदगी किसी निश्चय तक नहीं पहुंचेगी। सब कुछ बिगड़ जायेगा'''।'

और अनुभा हताश हो गयी। उसे लगा कि उसे उसके परिवेश और सम्बन्धों ने बहुत ही कमज़ोर कर दिया है। उसने कमू को जाने के लिए कह दिया और वह एकान्त में पत्थर की मूर्ति की तरह बैठी रही। उसकी आत्म-सृष्टि में एक विशाल रेगिस्तान फैल जाता है। अनंत और भयावह! उस प्यासे रेगिस्तान में जोर का अंधड़ उठ गया है। धूल के बादल घुमड़-घुमड़ कर उठ रहे हैं। उस धूल-भरे तूफान में कुछ आकृतियां हैं। ये आकृतियां बहुत ही अस्पष्ट हैं और जैसे ही उनकी झलक दिखायी देती है, वैसे ही धूल का आवरण उसे ढंक देता है। वह उन्हें नहीं देख पाती है। वह उन आकृतियों के लिए बेचैन और प्रयत्नशील है। धीरे-धीरे यह अंधड़ थमता है। आकृतियां धूल में धंस जातीं हैं। वह जाकर धूल हटाती है। आकृति साफ होती है। अरे! यह तो उसकी बहिन है'''तड़प रही है। वह उसे निकालती है। बहिन बड़ी कठिनता से आंखें खोलती है। देखती है, व्यंग्यभरी मुस्कान उसकी बहिन के धूल-भरे होठों पर नाच जाती है। घृणा-भरे स्वर में चीखती-सी बोलती है, "तू'''तू अनुभा! तू है, पहले अंधड़ बनकर हमें दबोचा और अब निकालने आयी हो'''तू है,'''तू है! हमें मर जाने दो'''हमें मर जाने दो'''।"

नीचे कोई बर्तन झनझनाकर गिरा। वह चौंक पड़ी। देखा उसके सामने कोई नहीं था। न रेगिस्तान और न अंधड़। वह तो अपने कमरे में बंद है। उसकी आंखें आंसुओं से तर है।

वह उठी। उसने खिड़की से बाहर झांका। विकसित होता हुआ शहर पुरानी चहार-दीवार के बाहर फैल गया था। वह दूर-दूर तक देखती हुई सोच रही थी कि कमू ने ठीक कहा था। उसके इस कदम के कारण उसके पीहर और ससुराल की प्रतिष्ठा कलंकित हो जायेगी और उसकी बहिनों का जीवन दुःखों से घिर जायेगा।

वह तीन दिनों तक उदास बैठी रही। उसकी मां ने पूछा। बहिनों ने निरन्तर प्रश्न किये पर वह चुप। एकदम चुप। अधिक विवश हुई तो एक मुस्कराहट के साथ इतना ही कहा—'कुछ नहीं सानू, मैं बहुत खुश हूं। मेरे सारे सपने पूरे हो गये हैं।' पर उसके अन्तस् का दर्द और आंखों की सजलता ने उसकी वाणी का साथ नहीं दिया।

'क्या तुम्हें जीजाजी पसंद नहीं हैं। सताते हैं? भला-बुरा कहते हैं?'

'नहीं, वे बहुत अच्छे हैं। वे मुझे कुछ भी नहीं कहते।' अनुभा ने बात के प्रसंग को बदला,—'दरअसल मेरे सिर में दर्द है। तीन-चार दिनों से तबीयत ज़रा ठीक नहीं है। कुछ टूटन-सी हो रही है।'

सानू ने उसके चेहरे को गौर से देखा। वह समझ गई कि उसकी जीजी उससे कुछ छुपा रही है। कुछ ऐसी बात है जिसे वह छुपाना चाहती है। पर वह अधिक नहीं बोली। चुपचाप जाने लगी। अनुभा ने सानू को पीछे से देखा। ठीक उसकी तरह ही उसके हाथ-पांव निकल रहे थे। उसने पुकारा, 'सानू।'

सानू घूमी और उसके पास आयी, 'क्या है जीजी?'

अनुभा ने सानू की बड़ी-बड़ी आंखों को देखा। अपलक देखा। उसकी आत्मा में अपनत्व

व अनुराग का ज्वार उमड़ आया। आंखें भर आयीं। उसने सानू को गले लगाते हुए चूम लिया। सानू अपनी जीजी के इस विचित्र व्यवहार को नहीं समझ पाई। वह अबोध बालक-सी देखती रही।

'क्या बात है जीजी ?' सानू उससे अलग होती हुई बोली, 'तुम कुछ छुपा रही हो ?'

तभी नीचे से आवाज़ आयी। उसकी मां की आवाज़, 'सानू, जीजी की चिट्ठी ले जा।'

गोकुल की चिट्ठी थी। सानू ने लाकर दी,'जीजाजी की चिट्ठी है। जरूर तुम्हें बुलाया होगा। तुम भी तो उनके बिना उदास हो।'

अनुभा ने चिट्ठी ले ली। खोलकर पढ़ी। बड़ी परम्पराबद्ध चिट्ठी थी। वे ही बासी शब्द। उस चिट्ठी में बार-बार यही लिखा था, 'मुझे रात को नींद नहीं आती। बस, तुम आ जाओ।'

पत्र पर पत्र। कभी एक और कभी दो।

अनुभा लौट आई। आते ही गोकुल ने अपने कमरे का दरवाज़ा बन्द किया।

अनुभा ने तेवर बदलकर कहा, 'खबरदार जो मेरे हाथ लगाया तो ?'

वह हक्का-बक्का हो गया। अनुभा की कठोर मुद्रा और जलती हुई आंखों को देखकर सहम गया। दीनता से बोला, 'क्या बात है ? मुझसे तुम नाराज़ हो, देखो ऐसा मत करो।'

'बकवास बन्द करो।' उसने फिर डांटा, 'मेरे हाथ मत लगाना। मुझे छुआ तो ठीक नहीं रहेगा।'

वह निश्चल हो गया।

अनुभा ने देखा, वह बड़ा दीन हो गया है। उसकी आंखों में प्रार्थनाएं तैर रही हैं।

'क्या बात है ?' गोकुल ने पूछा।

'सुनो, मैं यहां नहीं रह सकती। मेरा यहां दम घुटता है। क्या तुम कहीं और अपनी बदली नहीं करा सकते। सुनो जी, मैं यहां मर जाऊंगी, मेरा इस घर में दम घुट जाएगा।' अनुभा उसके पास चली गई और उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया।

'तुम जो कहोगी, वह मैं करूंगा पर अभी···देखो, कितने दिन···?'

'वचन दो कि हम यहां नहीं रहेंगे।'

'वचन देता हूं कि हम यहां नहीं रहेंगे। हम कहीं और घर ले लेंगे।'

उसने यह वायदा पूरा किया।

और उस दिन के बाद आज तक एक ही झूठी जिंदगी और उसके दायरे।

अनुभा को अच्छी तरह याद है कि इसके बाद उसने गोकुल को सदा अनिच्छा से समर्पण किए और अपनी मनचाही करायी। कभी भी गोकुल ने उसकी बात नहीं मानी तो अनुभा ने या तो उसे समर्पण नहीं किया या एक वेश्या की तरह उससे झूठा प्यार करके अपने मन की बात करायी।

पूरे दस साल हो गए हैं।

इन दस सालों का इतिहास भी अजीब है।

अनुभा व्यथा से अपनी चतुराई पर सोचती है कि उसने किस तरह अपने पति की कमज़ोरी का लाभ उठाकर पहले उसे अपनी मां से अलग किया—दूसरे शहर में बदली करा कर। फिर उसने प्राइवेट बी० ए० किया और बाद में कॉलेज ज्वाइन किया। रैगुलर क्लास अटेण्ड

की। बीच में तीन साल, दो बच्चों के होने पर शिक्षा में अवरोध पैदा हुआ।···अब वह एम० ए० है। इस बीच उसके पति ने बड़े ही दायित्व के साथ उसे पढ़ाया-लिखाया और स्वतन्त्रता दी।

उसे याद आया कि उसका पति खुद अच्छा नहीं खाता था पर उसे खिलाता था। फल और दूध तक लाता था। उसे बार-बार एक ही बात कहता था कि अनुभा, मुझे तुम पर बहुत विश्वास है। मैंने तुम्हें पढ़ाया-लिखाया है। स्वतन्त्रता दी है। आशा करता हूं कि तुम मुझे धोखा नहीं दोगी।···और वह···? उसे अपने आप पर ग्लानि हो आयी कि उसका पांव फिसल गया। उसने अपने पति की सारी आस्था और अडिग विश्वास को तोड़ दिया और उसने अपने आपको 'विश्व' को सौंप दिया था।

विश्व उसका सहपाठी था। कवि था। अच्छे स्वर का धनी था। जब गाता था तब श्रोता मन्त्रमुग्ध हो जाते थे और उसके चारों ओर हर्ष-ध्वनि होती थी। अनुभा उससे मिली थी। उस से उसका धीरे-धीरे भावात्मक सम्बन्ध जुड़ता गया। उसे यह महसूस होने लगा कि उसके अन्तस् की अनन्त तृष्णा बुझ रही है। विश्व का सम्पर्क-सहवास पाकर उसके मन की वह नारी जो आज तक अनिच्छा से अपना समर्पण करती आ रही थी, सचमुच एक सच्ची समर्पिता बन गई। और उसे वस्तुतः लग रहा था कि वह सही अर्थों में जी रही है। वह भी अपनी इच्छा से प्यार में आकंठ डूबकर किसी की बाहों के घेरे में बन्ध रही है। वह अपने पति से झूठ बोलकर सीधी विश्व के पास पहुंचती। विश्व अकेला रहता था। वह उसके पास बैठ जाती। वह भूल जाती कि वह किसी की पत्नी है, मां है। उसे सिर्फ याद रहता कि वह एक प्रेमिका है। वह भाव-नाएं बसाए हुए एक भावुक यौवना है जिसके अपने अलग स्वप्न और तृष्णा है। उसे लगता कि उसने व्यर्थ ही अपने पति के साथ इतने बरस बिताए। उसे उससे अलग हो जाना चाहिए। उससे सारे सम्बन्ध तोड़ लेने चाहिए क्योंकि अब वह उसे बर्दाश्त नहीं कर सकती।

आज ही सुबह-सुबह गोकुल ने पूछा था, 'अनुभा। आजकल तुम उदास-उदास रहती हो। हर समय तुम उखड़ी-उखड़ी बातें करती हो। कहो, क्या बात है?'

'कुछ नहीं।'

'सुनो, मुझसे छिपाओ नहीं। मैं हालांकि एक गरीब क्लर्क हूं पर मैं अब भी तुम्हारी हर इच्छा पूरी करूंगा। मैंने इतने कष्ट झेलकर तुम्हें पढ़ाया-लिखाया है। एम० ए० कराया है। थोड़ा कष्ट और सह करके मैं तुम्हारी सारी इच्छाएं पूरी कर सकता हूं। उदास न रहा करो।'

अनुभा ने कोई जवाब नहीं दिया।

'तुम समझती हो कि मैं तुम्हारी इच्छा पूरी नहीं कर सकता?' उसने खुद सवाल किया।

अनुभा ने सहसा उसकी ओर देखा। गोकुल का चेहरा दीनता से भर आया था। उस की आखों में याचनाएं तैर रही थीं। वह उसे देखती रही, फिर वह करुणा से भर आयी। यह कितना सीधा है। यह सिर्फ मेरे भावलोक को नहीं सजा सका। और सब कुछ किया मेरे लिए।'

'समझा।' गोकुल कुछ याद करके बोला—"तुम इसलिए उदास हो कि मैंने तुम्हें विश्व के यहां जाने के लिए मना कर दिया। अच्छा, तुम जा सकती हो। तुम्हें इसी में आनन्द मिलता है तो मैं तुम्हें नहीं रोकूंगा। मैंने तो सिर्फ दुनियादारी के लिहाज़ से तुम्हें मना कर दिया था।' वह एक पल रुका और बोला, 'मैं तुम पर बहुत विश्वास करता हूं। मैं जानता हूं कि मेरे त्याग को तुम अपमानित नहीं होने दोगी। तुम मुझे धोखा नहीं दोगी। मुझे तुम पर बहुत-बहुत भरोसा है कि तुम्हारे जिस्म को कोई छू भी नहीं सकेगा। तुम विश्व के यहां चली जाना। अब तो हंस दो···

हंस दो'''। अनुभा ! मैं तुम्हारी पीड़ा नहीं सह सकता।'

और अनुभा की इच्छा हुई कि वह यहां से भाग जाए और सूनी घाटियों में जाकर चीखे और वहां के सन्नाटे से कहे कि वह कितनी पतिता है ? सच, उसे अपने पति को धोखा नहीं देना चाहिए। उस पति को जिसकी त्याग-तपस्या के बल पर आज वह एम० ए० हुई है। पर वह क्यों विश्व के समक्ष यह भूल जाती है कि वह विवाहिता है। मां है। उस समय क्यों नहीं उसे याद रहता कि वह खास संस्कारों में जकड़े एक मध्यम वर्ग की महिला है'''वह 'विश्व के समक्ष एक नामहीन-संस्कारहीन नारी हो जाती है। पर उसे प्रकृति कभी क्षमा नहीं करेगी। हालांकि सैक्स उसके पति की बड़ी कमज़ोरी है और उसने सदा उस कमज़ोरी को एक्सप्लायट किया है। वह विश्व के साथ रही है। वह कितनी पतित है? कमीनी है। उसे अपने आप पर ग्लानि हो आई और उसे अपने आप पर क्रोध भी आया। उसका पति व्यथित, विगलित स्वर में बोला—'तुमने मुझे क्षमा नहीं किया। मैं तुम पर अविश्वास नहीं करता हूं अनु। अनु ! मैं जिसे सब जगह जाने की छूट दे सकता हूं उस पर कैसे अविश्वास कर सकता हूं। मैं तुम्हें हाथ जोड़ता हूं कि तुम मुझे अब क्षमा कर दो।' और वह अपने आप पर क्रुध होकर बोला—'मैं भी कितना कमीना हूं कि अपनी शिक्षित और मुझ पर प्राण न्योछावर कर देने वाली पत्नी पर शक कर लेता हूं। वह तो गंगा की तरह पवित्र है'''उसे कोई भी कलंकित नहीं कर सकता। आखिर वह एम० ए० पास है। जीवन के मर्म को समझती है।'''मुझे शर्म आनी चाहिये ''देखो, अनुभा, अब तुम मुझसे नाराज़ न हो, मैं तुम्हारी नाराज़गी नहीं सह सकता।'''और उसने उसके पांव पकड़ लिये। उस की आखें भर आयीं।

उसका दयनीय और करुणाप्लावित चेहरा अनुभा नहीं देख सकी। वह फफक पड़ी।

गोकुल बाहर निकल गया। पता नहीं किधर गया।

और अनुभा महापीड़ा में सुलगने लगी। सचमुच वह पतित है। उसने अपने पति के साथ कितना बड़ा छल किया है।'''अपने बच्चों के साथ। माना कि उसके पति ने उसके मन की अतल गहराइयों में बसी भावनाओं को नहीं छुआ, शेष तो सभी दृष्टि से वह लायक है। बेचारे ने कठिन श्रम में दस वर्ष खो दिये हैं। नौकरी और रात को दस-दस बजे तक पार्ट टाइम काम ! खुद सादा पहना और सादा खाया और उसे अपनी औकात के अलावा अच्छे-से-अच्छा पहनाया। '''और उसने उसके सारे विश्वासों को तोड़ दिया। एक ऐसे इंसान से प्यार किया जो उसे जीवन-भर नहीं अपना सकता। जो एक-न-एक दिन उसे छोड़कर चला जायेगा। शादी कर लेगा। घर बसायेगा। जीवन का उपभोग करेगा।'''वह क्यों दो बच्चों की मां के लिये अपना जीवन खराब करेगा ?

वह पलंग पर उठकर बैठ गई। उसकी आंखें आंसुओं से तर थीं। उसे लगा कि उसके शरीर में चीटियां काट रही हैं। वह उठी। उसने नीचे आंगन की ओर देखा। उसका पति गहरे अपनेपन से उसके बच्चों के साथ खेल रहा था। वह फिर करुणा से भर आई। उसने आकर शीशे में अपना चेहरा देखा। उसे लगा कि उसका चेहरा दो रंग का हो गया है।

अचानक उसने अपने पति को देखा। उसे देखते ही वह खुशियों से भर आया। उसके चेहरे पर आशा की किरणें फूट पड़ीं। वह जल्दी-जल्दी उसके पास आया और अनुभा का हाथ पकड़कर बोला—'अनुभा ! देखो अनुभा कौन आया है। विश्व जी, आइये विश्व जी आप तो कई दिनों से आये नहीं।'''सुना है आपकी शिक्षामन्त्री जी से जान-पहचान है। अनुभा की कहीं सर्विस

लगानी है।…'अरे। आप खड़े क्यों हैं? बैठिये, मैं आपके लिये मिठाई लाता हूं।' गोकुल चला गया।

अनुभा इस बीच निरन्तर अपने पति के चेहरे को देख रही थी। उसे लगा कि उसके पति के चेहरे पर एक रूखापन है। स्वार्थ का रूखापन। वह चाहता है कि अब मैं नौकरी करने लगूं। …कमाऊं।…छि:, कल जिस विश्व को घर में नहीं आने देता था, आज उसे स्वयं बुला लाया।

अनुभा सोचने लगी कि हम जो कुछ भोग रहे हैं, अनिच्छा से भोग रहे हैं। अनुभा के भीतर की पत्नी मरती गई और प्रेमिका सजीव होती गई। न जाने घर में एक गिरगिट कहां से चला आया। उसे देखकर अनुभा चौंक पड़ी और एक अपरिभाषित पीड़ा में घिर आई।

[आशालक्ष्मी, नया शहर, बीकानेर-334001]
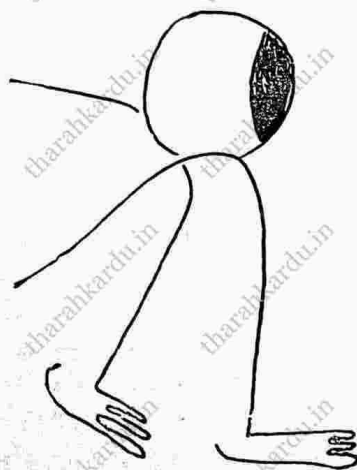
कविता

छः कविताएँ

□ अनिल जनविजय

बीसवीं शताब्दी का इतिहास

युद्ध
के विरुद्ध
युद्ध करती रही
यह दुनिया
पूरी शताब्दी लड़ती रही

हिमपात

अँधेरे को
रोशनी में बदलने की
कोशिश करती रही
रात भर
नन्हें-नन्हें चीनी के दानों सी
दूध-सी सफ़ेद
बर्फ़ पड़ती रही

मौत

बेचैन होते हैं
फड़फड़ाते हैं
पेड़ों से टूटकर गिर जाते हैं
पुराने पत्ते
नयों के लिए यह दुनिया छोड़ जाते हैं

रात और तुम

इस रात की तरह लम्बी हो तुम
इस रात की तरह उजली

गम्भीर हो तुम इस रात की तरह
इस रात की तरह गहरी

इस रात की तरह शान्त हो तुम
इस रात की तरह उदास

प्यारी हो तुम इस रात की तरह
इस रात की तरह मेरी

मेरे लिए आज की रात
सुख की बात है यह
कि तुम हो
मेरे साथ हो
इस रात की तरह

बादल

पवन के घोड़ों पर सवार
दूर देश से आते हैं
जल भरी ढेरों मश्कें साथ लाते हैं
जब तक कुछ सोचे-समझे धरती
उसके साथ होली खेल आगे बढ़ जाते हैं
खुद को आकाश का सम्बन्धी बताते हैं

बारिश

रात भर चुप-चुप / रोती रही रात
दिन भर टिप-टिप / सिसकता रहा दिन
बिजली के तार
पेड़-पौधे और मकान
सबके सब फूट-फूट कर रोते रहे
नगर भर को आँसुओं में भिगोते रहे
रोते रहे, भिगोते रहे, डुबोते रहे

[मास्को रेडियो, मास्को द्वारा विदेश मंत्रालय, नई दिल्ली]

तीन कविताएँ

□ राजेंद्र कुमार

जवाबदेही

बात न भी कही जाए
तो कुछ बिगड़ना नहीं है किसी का
कह भी दी जाए
तो किसी का कुछ बनना नहीं है

मैं अपने से पूछता हूँ—
तुम कौन सा विकल्प चुनते हो ?

जवाब में
जनमती है मेरी कविता।

नहीं है केवल फूल

मैं जिस सड़क से गुज़र रहा हूँ
वह
चाहे कितनी ही पक्की हो
कितनी ही साफ़ समतल और सपाट
कविता मेरे भीतर से
एक कच्ची सड़क-सी गुज़र रही होती है
ऊबड़-खाबड़
जाने कितनी ठोकरों की
साक्षी
सहेजे जाने कितने पाँवों की
थकन...
किसी की आँखों में झोंकने को नहीं

थकान को उत्साहित करने को
उठाती जाती जो धूल···

कविता—मेरे दोस्त—
नहीं है केवल फूल !

एक कविता का सवाल

एक आवाज़ गली में गूंजती है
रोज़
ठीक इसी वक्त—
'एक रोटी का सवाल है !'
मैं इंतज़ार में था
कि आज यह आवाज़ सुनाई दे
तो मैं अपनी घड़ी मिला लूं···
आवाज़ आई—
'एक कविता का सवाल है !'

कविता का सवाल ?
कैसा भिखारी है यह जो रोज़ रोटी माँगता था
आज
कविता मांग रहा है !

उसका
रोटी का सवाल सुनकर
मैंने अपना द्वार आज तक नहीं खोला था
कविता का सवाल सुनकर
द्वार तक दौड़े बिना रहा न गया मुझसे

—'कैसे भिखारी हो जी,
कविता का सवाल करते हो !'

—'शुक्रिया', उसने उत्तर दिया
'आपने मेरी एक भूल बताई है,
रोटी की जगह कविता
ओह, मैं भूल से कह गया !'

फिर वह धीरे से बोला—
'वैसे बता दूं, कविता लिखने की चाह
दब नहीं पाई है
आप विश्वास नहीं करेंगे
कविताएँ बहुत-सी लिखी भी हैं मैंने
पर इधर अरसे से
कोई कविता नहीं सूझी
शायद यही अहसास इस भूल में ढल गया
कहना था 'रोटी'
'कविता' मुंह से निकल गया…'

'तो तुम कवि भी हो ?'
मैं उससे पूछता, पर उसने
मौक़ा नहीं दिया मुझे
गली में आगे चलता बना।

ठिठकी रह गई सिर्फ़ उसकी
आवाज़—
'एक रोटी का सवाल है !'

ध्यान आया मुझे
अपनी घड़ी मिलानी थी।

पर
अब क्या हो ?
घड़ी मिलाने का सही वक्त तो वही था न
जब उसने कहा था
'एक कविता का सवाल है !'

[13, बंद रोड़ इलाहाबाद-211002]

थकान को उत्साहित करने को
उठाती जाती जो धूल···

कविता—मेरे दोस्त—
नहीं है केवल फूल !

एक कविता का सवाल

एक आवाज़ गली में गूंजती है
रोज़
ठीक इसी वक्त—
'एक रोटी का सवाल है !'
मैं इंतज़ार में था
कि आज यह आवाज़ सुनाई दे
तो मैं अपनी घड़ी मिला लूं···
आवाज़ आई—
'एक कविता का सवाल है !'

कविता का सवाल ?
कैसा भिखारी है यह जो रोज़ रोटी माँगता था
आज
कविता मांग रहा है !

उसका
रोटी का सवाल सुनकर
मैंने अपना द्वार आज तक नहीं खोला था
कविता का सवाल सुनकर
द्वार तक दौड़े बिना रहा न गया मुझसे

—'कैसे भिखारी हो जी,
कविता का सवाल करते हो !'

—'शुक्रिया', उसने उत्तर दिया
'आपने मेरी एक भूल बताई है,
रोटी की जगह कविता
ओह, मैं भूल से कह गया !'

फिर वह धीरे से बोला—
'वैसे बता दूं, कविता लिखने की चाह
दब नहीं पाई है
आप विश्वास नहीं करेंगे
कविताएँ बहुत-सो लिखी भी हैं मैंने
पर इधर अरसे से
कोई कविता नहीं सूझी
शायद यही अहसास इस भूल में ढल गया
कहना था 'रोटी'
'कविता' मुंह से निकल गया…'

'तो तुम कवि भी हो ?'
मैं उससे पूछता, पर उसने
मौक़ा नहीं दिया मुझे
गली में आगे चलता बना।

ठिठकी रह गई सिर्फ़ उसकी
आवाज़—
'एक रोटी का सवाल है !'

ध्यान आया मुझे
अपनी घड़ी मिलानी थी।

पर
अब क्या हो ?
घड़ी मिलाने का सही वक्त तो वही था न
जब उसने कहा था
'एक कविता का सवाल है !'

[13, बंद रोड़ इलाहाबाद-211002]

दो कविताएँ

□ चतुर सिंह

साठोत्तरी महाकाव्य

सामने से गुज़र जाते हैं
जिंदगी के पूरे अठावन साल

मालगाड़ी के डिब्बों की तरह
ताज्जुब होता है देखकर कि
इस छोर पहुँचकर
भूल जाता है इन्सान
मालगाड़ी के डिब्बों में बंद
अपने कीमती सामान

निःशब्द हो जाती हैं उसकी
सारी क्षमताएँ
कर डालता है राख
अपनी पहचान का सारा गणित
बहुत लम्बी हो जाती है मालगाड़ी
और इन्सान हो जाता है बहुत बौना
शेष रह जाती हैं
आसमान में उड़तीं
चंद स्याह-सफेद यादें
जिन्हें पकड़ने के लिए मचलता है
बनकर मासूम बच्चा
और वह बच्चा
अकेली सुबह से वीरान शाम तक
हाथ में थामकर खिलौना पिस्तौल
हर कहीं दागता है पटाखे

फूटती हैं
उसके तजुर्बों की
बेमानी, मरियल और धुँआली आवाज़ें
बहुत आगे गुज़र जाती है मालगाड़ी
पीछे पटरियों के बीच खड़ा होकर
वह बांचता है
साठोत्तरी महाकाव्य

कुरुक्षेत्रे

न जाने कौन-सा रहस्य था
कि गूंगा ही बनाए रखा
सारे महाभारत में
केशव ने अर्जुन को

केवल उसके इशारों पर ही
उठतीं थीं भुजाएँ
सव्यसाची की
और गाती थी उसी के संकेतों पर
गांडीव की प्रत्यंचा

शायद इसलिए कि
युद्ध की अनिवार्यता पर लग जाए
जन सहमति की मोहर

संदर्भ बदल चुके हैं बेशक
अपेक्षित है उन्हें कि
हो जाए समूचा विश्व गूंगा
उनके सामने
जो कृष्ण होना चाहते हैं
लेकिन नहीं हो सकेगा गूंगा
हरेक मुँह

गुज़र जाए सारी उम्र कारा में
नहीं बनेगा सव्यसाची
नेल्सन मंडेला

[रा० विद्यालय, नालागढ़, जि० सोलन, हि० प्र०]

तीन कविताएँ

□ क्रासिन खिम्मिस्की

(बल्गारिया के प्रमुख कवि हैं। इन कविताओं के अनुवाद अनेक भाषाओं में हुए हैं। क्रासिन राजनय सेवाओं में कार्यरत रहे हैं, इसलिए विश्व साहित्य से परिचित हैं। उनकी कविताओं की बड़ी विशेषता है कि वे आधुनिक मिजाज की कविताएं हैं। क्रासिन खिम्मिस्की भारत में विशेष दिलचस्पी रखते हैं। और उनका यह आकर्षण कविता में झलकता है।)

गांव घर

हमारे गांव घर बिल्कुल शुतुर्मुर्गों जैसे हैं।
हिम श्वेत शुतुर्मुर्गों जैसे।

श्वेत पर्वत चोटियों पर
उनके पंख क्षितिजों के पार उड़ते हैं
डरता हूं कहीं वे बहुत दूर न उड़ जायें ?

बर्फानी सड़कों से
उन्हें हमारी माँएं घेर लेती हैं
घेरते हैं सख्त पिता
और प्यारे हमसफर।
वहाँ आते हैं हम और चले जाते हैं
क्षितिजों पार
घोड़ों की जीन कस
हलवाही धरती बोने।
लौटते हैं घर में मुट्ठी भर गेहूं
और एक खूबसूरत बीवी लिए।

बस सर्दियों भी ठहरने आते हैं हम।
अपने बच्चों में
नातियों में

वह कुछ करने
जैसे बस उन्हें एक बूंद
परम्परा की ओस में
भिगोने आते हों
गांव घर की ऊष्मा में भिगोने।

जैसे ही लौटता है बसन्त
लौट जाते हैं हम
चीलों का झुंड हाँकते
दीखते हैं हमारे गाँव घर
शुतुर्मुर्गों से
हिमश्वेत मुर्गों जैसे।

हां...बसंत का जादू

क्यों नहीं हो गई दुनिया खत्म
गर्मियों के ताप में
नापाम लपटों से
क्यों नहीं गई झुलस, हो गई दुनिया खत्म ?

क्यों नहीं यह दुनिया संवलायी
जंग लगे पतझरों में
आणविक फुहारों से
क्यों नहीं हो गई यह दुनिया कोयला ?

क्यों न पीली पड़ गई दुनिया
अंधड़ों, शीत प्रलयों में।
तीखे आँसुओं की नदी में
क्यों नहीं हो गई यह श्रीहीन ?

लेकिन है, हाँ बसंत का जादू
सहलाता है जो अदृश्य स्फुलिंगों के घाव
अलगा देता है अणुओं की मुस्कान
हटी कलियों में
हमारे आँसुओं को
पलट देता है सूर्यों में...

मुखौटे

हर उगा दिन चढ़ा देता है
मेरे चेहरे पर एक ठोस
मुखौटा

बस ! आँखों के लिए थोड़ी जगह भी
और पीने के लिए प्यासी दुनिया

पगलाए नथुनों के लिए छेद
कि सोख सकूं गंदली प्राणवायु
हो—मुँह के लिए भी एक छेद
कि मशीनों के शोर पर चीख सकूं।

दिनारंभ और सूर्यास्त जला डालते हैं
दिन के ये मेरे मुखौटे
काटते हैं उन्हें रात में सितारे

आप कह सकते हैं
कितना विचित्र शौक है यह
और फिर भी मैं ही हूँ मालिक
इस विरल संग्रह का
मेरे पास है
हज़ार—हां मुखौटे हैं बेशकीमती
निपट मौलिक
किसी ने नहीं बनाए ऐसे
मेरे मुखौटे दिनों के

अनुवाद : गंगाप्रसाद विमल

चार कविताएँ

□ इल्याना शेरकोवा

[इल्याना शेरकोवा बल्गारिया की एक युवा हस्ताक्षर हैं। वे बच्चों की एक अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिका में संपादिका हैं। विश्व के अनेक देशों में वे भ्रमण कर चुकी हैं।]

तुम्हारा पता

तुम्हारा पता
अंकित था तत्व के हृदय में
पा लिया मैंने सहसा।
सीख रही थी चेतना।

हाँ वह तो आलोक स्तम्भों पर खुदा था
मैं ही देर से पढ़ पायी उसे

लेकिन मिल गया मुझे उत्तर
और देना ही पड़ा देय।

पर्व-कथा

अनाथ हैं आँखें मेरी
धुंध में याचना करती हुई :

ख्याल गडमड
अबावीलों की उचक सी
स्लेटी छतों पर
पढ़ती हैं रोटी का चूरा
किसी खुले हाथ के दान के साथ :

मेरी चेतना के चीथड़े
रोकते हैं शीत-कम्प

किसी सीपी के शून्य में
ठुंसे…।
जहाँ हज़ारों आकांक्षाएँ हैं और वे
कहते हैं वही सुरक्षित हैं
फूटी दीवारों के पीछे
सैंतमेत हुई उत्सव के अमूर्तन में।

चाह

चाह सकती थी उसे
जब तुम यहाँ थे।
करीब करीब
मुस्करा ही पड़ती मैं।

तब पूछते होते तुम
क्यों मुस्कुराती हूं मैं सदा

जब कि पास ही हूँ करीब

अकेले में
अब भी सोचती हूँ ऐसा
काफी है
और चुपचाप मुस्कराती हूँ
तमाम जवाब जानते हुए।

अनस्तित्वमय मिथक-पाखी

कभी कभी
चाह होती है छूने की
राख को।

उसकी कोमल
और गर्म जोशी पूर्ण दया
हाँ—एक पंखसिरे की उच्छ-वास
कुछ भी नहीं हैं वे
पंखों से परे
धीरे-धीरे हवा में गिरते
पंखों से बुने

अनुवाद : गंगाप्रसाद विमल

कला मनीषी : सोभा सिंह

□ डॉ० दिनेश चन्द अग्रवाल

'सोभासिंह' के व्यक्तित्व में मनीषी और कलाकार की अनोखी जुगलवन्दी रमी हुई थी। मानवता को समर्पित कर्मठ और लगनशील कलाकार को शाश्वत सौंदर्य को खोजने और उजागर करने की ललक जीवन भर बेचैन किये रही। सोभासिंह का जन्म 1901 ई० में व्यास नदी के तटवर्ती गांव हरगोविन्द पुर में हुआ था। पिता सरदार देवासिंह अत्यंत कठोर, निर्मम, तथा क्रोधी स्वभाव के व्यक्ति थे। अंग्रेजी थल सेना में कैवेलरी ऑफीसर होने के कारण आदेश देना और दूसरों से अपने आदेशों के पालन की अपेक्षा करना उनकी प्रवृत्ति बन चुकी थी। सारा परिवार उनसे थर्राता था। लोग उनकी इस प्रवृत्ति से परिचित हो चुके थे। बालक सोभासिंह चार वर्ष का भी नहीं हुआ था कि उसकी मां इच्छरां देवी बीमार पड़ गयी थी। देवासिंह ने अपनी पत्नी को उसकी लम्बी बीमारी से तंग आकर मायके भेज दिया। अन्ततः अपने पुत्र के बिछोह में ही उसने दम तोड़ दिया इस घटना ने बालक सोभासिंह के फूल-से हृदय को झकझोर डाला।

मां और पिता के प्यार से वंचित अभागा सोभासिंह आंखों में आंसू लिए इधर-उधर मारा-मारा फिरता रहता। घर की दीवारों पर अनगढ़ आकृतियां और आड़ी-तिरछी रेखायें खींचता रहता। वह चाकू लेकर रेतीली शिलाओं और चट्टानों को खुरचता रहता। चाकू से खुरची लकीरों से कभी जो भी स्त्री-आकृति बनती उसे वह सीता मां कहता था क्योंकि वह गांव के मंदिर में सीता माता की आकृति देख चुका था और सीता माता के रूप में उसकी मां उसके मन की गहराइयों में समायी हुई थी जो बार-बार सीता मां के रूप में प्रकट हो जाती थी। तब उसकी आंखों से आंसू बह निकलते किंतु मां को पाने की लालसा और भी अधिक बढ़ती गयी। उद्विग्नता की हालत में आत्महत्या तक की भी कोशिश की और कलाबाजी के शौक में लकड़ी के ऊंचे फाटक से लटकने पर दाहिने पैर की हड्डी टूटने के कारण सदा के लिए लंगड़ा हो गया। बहन लच्छी का पति ओवरशियर था। बहनोई की प्रेरणा से उसने पंद्रह वर्ष की आयु में इंडस्ट्रियल स्कूल अमृतसर से आर्ट एण्ड क्राफ्ट का एक वर्षीय सर्टिफिकेट कोर्स पूरा किया। जब वह सोलह वर्ष का हुआ तो पिता का देहान्त हो गया। बहनोई के सहारे उसने कला का बहुत-सा तकनीकी ज्ञान हासिल कर लिया।

वर्ष 1919 ई० में अमृतसर की भयंकरतम घटना 'जलियां वाला बाग का हत्याकांड' हुआ; दुर्भाग्य से सोभासिंह भी उस जन समूह में सम्मिलित था जिस पर कर्नल डायर के आदेश से गोलियां बरसायी गयीं थीं। वह लाशों के ढेर में दबा रह गया और बाद में खोजने वालों ने उसे ढेर में से जीवित निकाला था। वहां भी उसकी जिन्दगी काल के शिकंजे से बच निकली

थी। उसी वर्ष उसे हिन्दुस्तानी सेना में ड्राफ्ट्समैन की नौकरी मिल गयी जिसमें उसे चार वर्ष बसरा और बगदाद में रहना पड़ा। इस दौरान उसने यूरोपीय चित्रकला की बहुत-सी पुस्तकों का अध्ययन किया और सेना में ही नियुक्त कुछ बरतानवी चित्रकारों की संगत प्राप्त करने का सुअवसर भी मिला।

वर्ष 1923 में वह हिन्दुस्तान लौट आया। उसने एक स्वतंत्र पेशेवर कलाकार के रूप में अमृतसर के चौक फव्वारे के निकट ही अपना स्टूडियो स्थापित किया। उन्हीं दिनों में अकाली सिक्ख सत्याग्रहियों द्वारा 'गुरू का बाग' वाला मोर्चा पूरे ज़ोरों पर चल रहा था। उसने सिक्ख सत्याग्रहियों के चेहरों पर आध्यात्मिक तेज और उनके आत्मोसर्ग को देखा तो वह 'सिक्खी' (सिक्ख आध्यात्म) की ओर प्रवृत्त हो गया। उसने सिक्ख धर्म के इतिहास और गुरुओं की दार्शनिक भावनाओं का अध्ययन किया। सम्पूर्ण मानवता के प्रति प्रेम से भरे उनके आध्यात्मिक उपदेशों तथा घृणा, अधर्म व अन्याय के विरोध में उनके बलिदानों के प्रसंगों ने सोभासिंह की आत्मा पर गहरा प्रभाव डाला, जिसके फलस्वरूप उसे अपनी कला के लिए व्यापक भाव-भूमि की अनुभूति हुई। वर्ष 1924 में उसका सम्पर्क उपन्यासकार नानक सिंह से हुआ जिसने सोभा सिंह को क्षेत्रीय समाज और संस्कृति के प्रति एक कलाकार के दायित्व का बोध कराया। वर्ष 1926 में वह लाहौर चला गया। वहां बाज़ार अनारकली और कॉलिज रोड़ के क्रॉसिंग के निकट एक फल वाले की दुकान के ऊपर उसने अपना स्टूडियो स्थापित किया।

पहाड़ी चित्रकला के समीक्षक व अन्वेषक डा० एम० एस० रंधावा 1929 में लाहौर के गवर्नमेंट कॉलिज में एम० एस-सी० (वनस्पति शास्त्र) के विद्यार्थी थे तथा अपने थीसिस के लिये वे सोभासिंह द्वारा शैवालों (algae) के रेखाचित्र बनवाते थे। उन्होंने ही तब स्टूडियो में पंजाबी जन-जीवन के दृश्यों को सोभासिंह द्वारा बनाये चित्रों में देखा तो उसकी प्रतिभा को जान लिया और उसे 'सच्चा पंजाबी कलाकार' कहकर उसकी सराहना की।

लाहौर भी जब सोभासिंह को रास नहीं आया तो वे वर्ष 1931 में दिल्ली चले आये और कनॉट प्लेस में अपना स्टूडियो स्थापित किया। यहां उन्हें एक कॉमर्शियल आर्टिस्ट के रूप में कार्य करके बहुत सफलता मिली और धन भी कमाया। हिन्दुस्तानी रेल विभाग और डाक व तार विभाग के लिए उन्होंने उत्कृष्ट पोस्टर बनाये। उस समय एक ब्रितानवी अधिकारी कर्नल जी० डी० टेट उनकी कला का बहुत प्रशंसक था तथा उसी ने उनको बहुत-सा कार्य दिलवाकर उत्साहित तथा प्रेरित किया था। उन दिनों का एक पोस्टर उल्लेखनीय है जिसमें स्वतंत्रता पूर्व जयपुर रियासत के ऐश्वर्य और वैभव को प्रदर्शित किया गया था। इसमें आभूषणों व सुनहरी झूल से सजे हाथी पर महाराजा की सवारी निकल रही है। आगे-आगे संगीत वादकों और बहुत से विशिष्ट सेवकों व कर्मचारियों का समूह चल रहा है जिनकी वेशभूषा राज्य की समृद्धि और सम्पन्नता को अभिव्यक्त करती है। छज्जों और झरोखों से 'हरम' की शाही महिलाएं इस शोभायात्रा को देख रही हैं। यह पोस्टर रेल विभाग के लिए बनाया गया था। इस पोस्टर से सोभासिंह की सृजनात्मकता की विशिष्टता चर्चित होने लगी थी। यह पोस्टर सम्प्रति भारतीय रेल विभाग की सम्पत्ति है। दिल्ली में वे लगभग ग्यारह वर्ष रहे। वहां अनेक कलाकृतियों का सृजन किया जिसके परिणामस्वरूप वह एक अच्छे चित्रकार के रूप में अपना स्थान बना चुके थे किंतु उनके हृदय में अशांति और व्याकुलता मची हुई थी। उनको इस पेशेवर चित्रण कार्य से संतुष्टि नहीं हो सकी थी।

वर्ष 1941 में पंजाबी जॉरनल 'प्रीतलड़ी' के सम्पादक गुरबख्श सिंह ने लाहौर और अमृतसर के बीच तहसील अजनाला के समीपस्थ ग्रामीण क्षेत्र में प्रीत नगर नाम से एक कॉलोनी की स्थापना कर दी थी। इस कॉलोनी में सारे पंजाब से लेखक, कवि, चित्रकार, शिक्षक और अन्य 'आइडियलिस्ट' व्यक्ति बसने के लिए एकत्रित हो रहे थे। वर्ष 1942 में गुरबख्श सिंह ने सोभासिंह को भी वहां रहने के लिए निमंत्रित किया। सोभासिंह प्रीत नगर में जाकर रहने लगे। वहां उनकी संगत में नानकसिंह, राजिन्द्र सिंह वेदी, बलवंत गार्गी आदि गुणी जन सम्मिलित थे। अभी वहां रहते हुए छः माह भी नहीं बीते कि गुरबख्श, सोभासिंह तथा अन्य प्रतिभाओं के बीच वाद-विवाद और प्रतिद्वंद्व पनप उठा। सोभासिंह के लिए ऐसी अशांति और अस्वस्थ वातावरण में रह पाना संभव नहीं था। तभी वहां हिन्दुस्तान के बंटवारे का बवंडर उठने लगा। चारों ओर हलचल और फिजां में कड़वाहट घुलने लगी। आखिर वह समय भी आ गया जब अगस्त 1947 में फैले भयंकर झंझावात के कारण सोभासिंह को लाहौर से पलायन करना पड़ा। अपनी साठ से अधिक मूल्यवान कलाकृतियों को लाहौर में ही भगवान भरोसे छोड़कर खाली हाथों, अपने एक शिष्य के साथ जब वे कांगड़ा घाटी के एक छोटे-से गांव अन्द्रेटा पहुंचे तब संध्या हो चली थी और भारी वर्षा हो रही थी। ठंड में दोनों ठिठुर रहे थे, किंतु वहां किसी ने भी उन्हें शरण नहीं दी। जिस दरवाज़े पर भी वे लोग जाते, लोग संशय में दरवाजा बन्द कर लेते या नज़रें घुमा लेते थे। अंधेरा बढ़ जाने पर जब दुकानें बन्द होने लगीं तब दोनों ने अपना बिस्तर एक दुकान की फड़ (लकड़ी का तख्ता) पर खोल दिया। उनकी दुर्दशा से द्रवित होकर एक दुकानदार ने उनको रात गुजारने के लिए अपने एक शैड में थोड़ी-सी जगह दे दी। बंटवारे के पारस्परिक वैमनस्य को देखकर उनका हृदय वेदना के सैलाब में डूब गया। पंजाब की जानी मानी लेखिका नोराह ने सोभासिंह की पीड़ा को समझा और अपना एक छोटा-सा कॉटेज उनको किराये पर देने को तैयार हो गई। कुछ माह किराये के उस कॉटेज में रहने के बाद अंद्रेटा में ही थोड़ी भूमि खरीद ली तथा वहीं अपना सुन्दर-सा घर बनाने का संकल्प कर लिया।

घर बनाने के लिए धनोपार्जन हेतु वह अक्तूबर 1948 में पुनः दिल्ली चले गये। किंतु वहां तब पाकिस्तान से आये हुए असंख्य शरणार्थियों के कारण घोर अव्यवस्था फैली हुई थी। वहां भी वह कोई लाभदायक काम नहीं जुटा पाये। उन दिनों उनके पूर्व परिचित डा० एम० एस० रंधावा दिल्ली में ही प्रशासनिक विभाग में एक उच्च अधिकारी के पद पर कार्य कर रहे थे किंतु दोनों को ही दिल्ली में ही एक दूसरे की मौजूदगी की सूचना शायद बहुत देर से मिली। वर्ष 1948 के दिसम्बर माह में जब डा० रंधावा डिप्टी कमिश्नर बन कर दिल्ली से अम्बाला को स्थानान्तरित हुए तो उन्होंने सोभासिंह को अपने साथ ही रहने के लिए आमंत्रित किया। डा० रंधावा के सहयोग से ही अम्बाला छावनी के सरहिन्द क्लब में सोभासिंह की कलाकृतियों की भव्य प्रदर्शनी का आयोजन किया गया। भारतीय वायुसेना के अधिकारियों द्वारा उनकी कई कलाकृतियां खरीद ली गयीं। अम्बाला में ही उन्होंने गुरु गोविंद सिंह जी का भव्य पोर्ट्रेट तैयार किया था। अम्बाला शहर में डा० रंधावा के प्रयासों से स्थापित गुरु गोविंद सिंह पुस्तकालय के लिए उक्त चित्र खरीद लिया गया जो आज तक वहां की शोभा बढ़ा रहा है। इस प्रकार से एकत्रित धन से सोभासिंह ने अन्द्रेटा में अपना कॉटेज 'Grow more goodness' बनाया जहां उन्होंने अपने जीवन का शेष समय व्यतीत किया और उत्कृष्ट कलाकृतियों का

सृजन किया। यह स्थान कला-प्रेमियों के लिए एक तीर्थ बन गया। सुरम्य व शांत प्राकृतिक छटा के बीच यह कॉटेज स्थित है। उत्तर की ओर बर्फ से ढकी धौलाधार पर्वत शृंखला और उनके नीचे दूर तक धान के हरे-भरे खेतों का विस्तार। ऊपर स्वच्छ नीला आकाश। कॉटेज के परिसर में एक छोटा-सा सरोवर है। कॉटेज के एक बड़े भाग में कला वीथिका, जिसमें आने-जाने पर कोई रोक टोक नहीं। यहां नयी व पुरानी विशिष्ट कलाकृतियां अत्यंत करीने से प्रदर्शित रहती हैं। एक सामान्य दर्शक-दीर्घा भी है जिसमें सामान्य स्तर के दर्शकों के लिए कुछ धार्मिक चित्र और दो-चार सामाजिक विषय वाले चित्र संजोये रहते हैं तथा शेष भाग में स्टूडियो आदि बने हैं। कुल मिला कर यह स्थान बाहर से किसी ऋषि का चिंतन धाम प्रतीत होता है और भीतर से एक कलाकार का साधनागृह। जिस शांति की खोज में वे भटकते रहे, वह उन्हें यहीं मिली। यहां की प्रकृति के विराट और नैसर्गिक अल्हड़पन ने बेचैन सोभासिंह के कदमों को बरबस रोक लिया था और यहीं के होकर रह गये थे। हिमाचल के भूभाग में न जाने कैसा आकर्षण है कि यहां जो भी आता है, वह यहीं का होकर रह जाता है। रूस के प्रसिद्ध चित्रकार निकोलस रोरिक भी विश्व भ्रमण करने के पश्चात् जब यहां आये तो ऐसे सम्मोहित हुए कि अपने देश लौट जाने का मोह भी छूट गया। अपने जीवन के अंतिम दो दशक यहीं कुल्लू घाटी में बिताये।

ऐसा भी नहीं था कि सोभासिंह प्रकृति के इस प्रेम में डूबकर समाज से दूर हो गये थे। वरन् वे समकालीन समाज तथा व्यापक मानव कल्याण की भावना के प्रति भी अत्यंत संवेदनशील थे। उन्होंने समाज तथा व्यक्ति को विविध संवेगों के परिप्रेक्ष्य में अनुभूत किया और अपनी कला को सशक्त भूमिका प्रदान की। वे अपनी क्षेत्रीय संस्कृति को भी कभी नहीं भूले। उन्होंने पंजाब में प्रचलित लोकगीतों तथा प्रणयगाथाओं 'सस्सी पुन्नु', 'हीर रांझा', 'सोहनी महीवाल' तथा जन साधारण के यथार्थ को अत्यंत निकटता और व्यापकता से देखा था जिसके फलस्वरूप समीक्षकों ने उनको 'painter of Punjab's Soul' भी कहा। उनकी यह विशिष्टता उनकी कलाकृतियों में प्रतिबिम्बित होती है। उनकी एक कलाकृति 'कांगड़ा की दुल्हन' ने तो स्व० लेडी माउन्टबेटन को मोहित कर डाला था। वह सम्प्रति इंगलैंड में है। इसी भाव साम्य का एक चित्र पंजाबी लोक गीत 'पाप्पी कुक्कू कीहां बोल्दा' पर भी आधारित है। उन्होंने अन्य चित्रों में कांगड़ा की दुल्हन को विविध मनस्थितियों में भी अंकित किया। किंतु उसकी आकृति में एक लाड़ली बेटी और ममता से भरी नारी की समन्वित अनुभूति होती है। 'सस्सी पुन्नु' की नायिका 'सस्सी' में उन्होंने एक प्रेयसी और पंजाब की बेटी का समन्वय अभिव्यक्त किया जिसमें आदर्श हिन्दुस्तानी नारीत्व झलकता है। 'सोहनी महीवाल' ने तो उनको सर्वाधिक प्रभावित किया जिससे प्रेरित होकर उन्होंने 1944 में एक चित्र तैयार किया जो पाकिस्तान में ही छूट गया। 1948 में दूसरी बार उसी विषय पर चित्र तैयार किया लेकिन एक प्रशंसक ग्राहक ने खरीद लिया। तीसरी बार जिस कलाकृति का सृजन किया वह सोभासिंह की कलात्मक योग्यता की उत्कृष्टता का प्रतीक बन गयी। यद्यपि उक्त तीसरी कलाकृति भी जम्मू व कश्मीर के महाराजा डा० कर्ण सिंह को बेच दी गयी किंतु इसका Copy right सोभासिंह के पास ही रहा और उन्होंने इसकी रंगीन प्रतियां छपवा कर बेचनी आरम्भ कीं। इस कलाकृति ने उन्हें बहुत धन दिया। सारे भारत में यह चित्र पहुंचा और मुक्त कंठ से सराहा गया। दूर-दूर तक कला-प्रेमियों और समीक्षकों ने उनकी कलात्मक श्रेष्ठता को पहचाना। इस चित्र में

रंग और आकृतियों के लयात्मक-संयोजन और नैसर्गिक वातावरण ने मिलकर सोहनी की अर्ध-नग्न आकृति में वासना रहित नारीत्व और सद्य आभापूर्ण दैहिक सौंदर्य भर दिया। यह चित्र उनके कृतित्व की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि माना जाता है।

'उमर खैयाम' की शायरी भी शायरी के रसिकों को बहुत प्रिय थी। सोभासिंह ने इसको लेकर भी चित्र बनाये जो बहुचर्चित हुए। मुगल बादशाह शाहजहां और मुमताज के बीच रोमानी प्रेम प्रसंगों ने भी सोभासिंह को प्रभावित किया था। इस विषय पर बनाये चित्रों में उल्लेखनीय 'Her Last Desire' है जिसमें शाहजहां को आगरा के लाल किला के मुसम्मन बुर्ज में कैदी की स्थिति में दिखाया गया है। यह चित्र भी विशिष्ट और सराहनीय है जिसमें उनकी कला की तकनीकी उपलब्धि के अतिरिक्त भावनात्मक अभिव्यक्ति व सम्पूर्ण वातावरण विषयानुकूल बन पड़ा है। यह कलाकृति सम्प्रति स्टेट म्यूजियम एण्ड आर्ट गैलरी चंडीगढ़ में संगृहीत है। प्रेम प्रसंगों पर बनाये उनके चित्रों में सर्वोपरि तथ्य यह है कि उनमें कहीं भी अश्लीलत्व अथवा मर्यादाहीनता की अनुभूति नहीं हो पाती। प्रतीत होता है कि प्रेम को उन्होंने वास्तविक पवित्रता में देखा है।

सोभासिंह के कृतित्व का दूसरा सराहनीय पक्ष 'पोर्ट्रेट्स' (व्यक्ति चित्रण) हैं। वे जिस व्यक्ति का भी पोर्ट्रेट बनाते, उसकी आकृति और स्वभाव का गहन सूक्ष्मता से अध्ययन कर अपने अन्तःपटल पर अक्स उतार लेते थे। अपने समय के बहुत से प्रतिष्ठित व्यक्तियों के पोर्ट्रेट उन्होंने बनाये थे। इनमें अत्यन्त विशिष्ट पोर्ट्रेट पंजाब के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री स्व० प्रताप सिंह कैरो का है जो सम्प्रति पी० जी० आई० (पोस्ट ग्रेजुयेट इंस्टीट्यूट ऑफ मेडिकल एज्युकेशन एण्ड रिसर्च) चंडीगढ़ की शोभा बढ़ा रहा है। इसमें कैरो के स्वाभाविक यथार्थ का सच्चा प्रति-बिम्ब है जो कैमरे द्वारा सम्भव नहीं है। उनके बनाये हुए 'राष्ट्रपिता-महात्मा गांधी' के चित्र को तो पंजाब सरकार ने ऑफिशियल पोर्ट्रेट के रूप में प्रतिष्ठित किया था। अतएव इसे छपवा-कर राज्य के प्रत्येक कार्यालय में सुशोभित किया। यह कलाकृति सम्प्रति इंडियन अकादमी ऑफ फाइन आर्ट-अमृतसर में संगृहीत है। डा० रंधावा का पोर्ट्रेट रंधावा जी के अपने निवास के स्वागत कक्ष में है। कुछ अन्य पोर्ट्रेट पंजाब आर्ट्स काउंसिल-चंडीगढ़ की कला वीथिका के संग्रह को समृद्ध कर रहे हैं।

सोभासिंह के कृतित्व और व्यक्तित्व की जुगलबन्दी की अनुभूति धार्मिक विषय वाले चित्रों से होती है जो उनकी उर्वरा कल्पनाशक्ति, विलक्षण चिंतन तथा प्रज्ञा के द्योतक हैं। इन चित्रों का निर्माण भरपूर मनन-चिंतन तथा विषय से सम्बन्धित साहित्य और संस्कृति के सूक्ष्म अध्ययन के उपरान्त हुआ है।

गुरु नानक, एमरसन, जे० कृष्णामूर्ति, खलील जिब्रान, वॉल्ट व्हाइटमैन, थोरियू, कबीर रूमी, महर्षि रमन, लाउत्जे तथा अन्य धार्मिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक व प्राचीन कला सम्बन्धी रचनाओं के अध्ययन से उनकी अन्तर्दृष्टि इतनी संवेदनशील हो चुकी थी कि वे विषय सम्बन्धित चित्र का पूर्वदर्शन कर लेते। वस्तुतः उनकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति और उच्च स्तरीय सौंदर्यानुभूति के कारण उनकी अन्तर्दृष्टि प्रखर, समृद्ध और सृजनात्मक हो गयी थी। वर्ष 1934 में निर्मित गुरु नानक देव पर उनकी पहली कलाकृति में नानकदेव को उनकी माता तृप्ता की गोद में शिशुरूप में दिखाया गया है तथा घर की अन्य महिलाएं चारों ओर से उनको घेरे हुए हैं। पृष्ठ भूमि में शिव, राम, सीता और सरस्वती उस दिव्य-शिशु पर पुष्प वर्षा कर रहे हैं। धार्मिक

घटना प्रधान चित्रों के अतिरिक्त उन्होंने पंजाब की कला में एक नयी परम्परा का सूत्रपात किया वह है Icon Portraiture, जिसके अन्तर्गत उन्होंने सिक्खों के धार्मिक गुरुओं के ऐसे काल्पनिक (इन्ट्यूटिव) पोर्ट्रेट तैयार किये जिनमें अलौकिकता और लौकिकता का रमणीय समन्वय है। इन चित्रों के सम्मुख सारा सिक्ख समाज नतमस्तक हो गया तथा इन चित्रों ने वास्तव में उन्हें प्रसिद्धि के शिखर पर प्रतिष्ठित किया था। वर्ष 1937 में निर्मित गुरु नानक देव का एक पोर्ट्रेट जिस पर भावपूर्ण शीर्षक 'नाम खुमारी नानका चढ़ी रहे दिन रात, अंकित है, उल्लेखनीय कलाकृति है तथा इसमें अंकित अतीन्द्रिय एवं आध्यात्मिक भाव-मुद्रा के कारण, यह चित्र छप जाने के बाद प्रत्येक सिक्ख-घर में पूजा जाने लगा। इस चित्र ने भी सोभासिंह को पर्याप्त धन दिया। गुरु नानक देव सम्बन्धित अन्य श्रेष्ठ चित्र-श्रृंखला स्टेट म्यूजियम एण्ड आर्ट गैलरी-चंडीगढ़ में संगृहीत हैं। इन चित्रों ने ही उनको धार्मिक कला की अभिनंदनीय प्रतिभा के रूप में प्रतिस्थापित किया था। इनके अतिरिक्त गुरु नानक और गुरु गोविन्द सिंह के दो प्रभावोत्पादक चित्र आज नयी दिल्ली स्थित संसद भवन की शोभा बढ़ा रहे हैं। नयी दिल्ली स्थित गुरुद्वारा बंगला साहिब के लिए जिस चित्र की रचना उन्होंने की थी उसमें गुरु हरकिशन सिंह रोगियों व निर्बल व्यक्तियों का उपचार व सेवा कर रहे हैं अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर परिसर में स्थित सेन्ट्रल सिक्ख म्यूजियम में उनके बनाये हुए गुरुओं के चित्र वहां की अन्य कलाकृतियों में प्रभावी और श्रेष्ठ हैं। उन्होंने केवल 'सिक्खी' ही नहीं वरम् हिन्दू धर्म के श्री राम, कृष्ण, शिव तथा अन्य पौराणिक विषयक कला-कृतियों का निर्माण भी समान रुचि और कलात्मक गुणों से ही किया। उनके धार्मिक चित्रों को देखकर अकस्मात् ही उन्नीसवीं सदी के प्रसिद्ध चित्रकार राजा रवि वर्मा (1848-1906) की धार्मिक कृतियां स्मृति में उभरने लगती हैं जिन्होंने बहुत समय तक सारे देश में धूम मचा रखी थी।

सोभासिंह के हृदय में सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता, आस्था तथा सम्मान था। उन्होंने ऐसी कलाकृतियां नहीं बनायीं जिनमें युद्ध, घृणा, वैमनस्य के परिणाम-स्वरूप होने वाले विध्वंस मानवसंहार, उत्पीड़न और यातना की अभिव्यक्ति हो। उनका अटूट विश्वास था कि मानव जाति को शांति और कल्याण के पथ पर ले जाने के लिए नेतृत्व-सामर्थ्य केवल कला में ही है।

हिमाचल प्रदेश के चम्बा और कांगड़ा क्षेत्र में वहां के सांस्कृतिक सर्वेक्षण के अन्तर्गत 3 मार्च 1983 को अन्द्रेटा में सोभासिंह से भेंट करने का मुझे सुअवसर मिला था। वहां पर उनकी कलाकृतियों को देख लेने के पश्चात् उनके साथ हुई भेंट वार्ता के अन्तर्गत मैंने उनसे जानना चाहा कि धर्म व मासूम लोगों की रक्षा के लिए सिक्ख गुरुओं के बलिदान और उन पर यातनाओं सम्बन्धी प्रसंगों को अपने चित्रों में क्यों नहीं अपनाया, जबकि यातनाओं को हंसते हुए सहन करना भी उनकी दिव्यता और महानता का द्योतक है और महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाएं भी हैं। मेरी जिज्ञासा का उत्तर देने से पूर्व वे कुछ समय खामोश रहे; दूर घाटी में डूबते सूर्य को निहारते रहे, लगता कि वे कोई ठोस बात कहना चाहते हैं। उनकी खुली सफेद दाढ़ी, सिर के सफेद केश, जमाने के उतार चढ़ाव लिए हुए, ऊंचे मस्तक पर गहरी रेखाएं, आंखों में असीम ज्ञान की गहराई, सफेद मूंछों के बीच से झांकते हुए वाणी को समेटे हुए होंठ। खामोशी तोड़ते हुए बोले, "ऐसी कलाकृतियां जो हिंसात्मक और यातनात्मक प्रसंगों को अभिव्यक्त करतीं हैं, एक समाज को वैमनस्य और यातनाओं की बार-बार याद दिलाती हैं। रक्त के धब्बे रक्त से कभी नहीं धुल सकते। युद्ध, नर-संहार और धार्मिक असहिष्णुता के चित्र मानव और मानव

के बीच घृणा की खाई का निर्माण करते हैं, अमानवीयता, नृशंसता तथा द्वेष का उद्वेग संचारित होता है जिससे प्रेम, विश्वास और बन्धुत्व का नाश होता है। दूसरी ओर शांति और सांत्वना का संदेश लिए हुए शहीदों के चित्र दो हृदयों के बीच भेदभाव को समाप्त कर देते हैं, दुर्भाव उत्पन्न नहीं करते। वे एक दीपक के समान हैं, जिसका प्रकाश भले ही सीमित दायरे तक ही फैलता है किंतु अंधकार में भी उसका अपना एक महत्व होता है। मानव को जीने के लिए न केवल धन व अन्न ही चाहिए वरन् आध्यात्मिक आनन्द का आवलंबन भी चाहिए। कला का दर्शन 'सत्यं शिवं सुन्दरं' नहीं वरन् 'सुन्दरं, शिवं सत्यं' होना चाहिए।"

उनकी जन्म भूमि भले ही पंजाब में रही तथा उनको पंजाब का ही चित्रकार भी कहा गया किंतु उनकी कला किसी विशेष धर्म या क्षेत्र सापेक्ष नहीं थीं। कला क्षेत्र में उनकी योग्यता तथा ज्ञान के आधार पर 1970 में उनको पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला द्वारा दो वर्षीय फैलोशिप तथा 1972 में हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय की काउंसिल की मनोनीत सदस्यता से सम्मानित किया गया। इसके अतिरिक्त गुरु नानक देव विश्वविद्यालय द्वारा भी उनको सम्मानित किया गया था। उनके गुणों से प्रभावित होकर वर्ष 1973 में केन्द्रीय सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार ने उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर एक डाक्यूमेन्ट्री फिल्म तैयार कराई थी। वर्ष 1974 में पंजाब सरकार ने उनको राज्य कलाकार की उपाधि से सम्मानित किया। वर्ष 1982 में पंजाब आर्ट्‌स कांउंसेल (चंडीगढ़) ने उनको अपने यहां के सर्वोच्च सम्मान से अलंकृत किया था। 1983 में नयी दिल्ली स्थित राष्ट्रपति भवन में उनको भारत सरकार ने 'पद्मश्री' की उपाधि से विभूषित किया।

अपनी आयु के 84वें वर्ष में भी मनन व चिंतन के अतिरिक्त सोभासिंह दस-बारह घंटे प्रतिदिन चित्रण कार्य करते। निरन्तर, अनुशासित व एकाग्र होकर परिश्रम करना ही उनकी सृजनात्मक शक्ति का रहस्य रहा। पोर्ट्रेट बनाने में उनकी दक्षता से प्रभावित होकर भारत सरकार की ओर से उनको तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह का एक आदमकद चित्र बनाने का दायित्व सौंपा गया। राष्ट्रपति भवन के भोजकक्ष में उक्त चित्र को लगाने का स्थान भी निश्चित हो चुका था। अपनी वृद्धावस्था जनित शारीरिक दुर्बलता के रहते भी, उन्होंने उक्त चित्र के लिए प्राथमिक रेखांकन कर डाला था। विभिन्न कोणों से ज्ञानी जी के कई छायाचित्रों द्वारा उनके व्यक्तित्व को वे अपनी अन्तर्दृष्टि में समेट रहे थे। किंतु विधाता को यह चित्र पूर्ण रूप में देखना मंजूर नहीं था। यह उनकी अन्तिम व अधूरी कलाकृति थी। वे नितान्त अस्वस्थ और अशक्त हो चुके थे।

अन्ततः 22 अगस्त 1986 को पी० जी० आई० चंडीगढ़ में लम्बे समय तक उपचार के बाद यह कलाकार हमारे बीच से चल बसा। उनकी अन्त्येष्टि पूरे सम्मान के साथ की गयी।

[8-कॉलिज क्वार्टर्स, प्रद्युम्न नगर, सहारनपुर (उ० प्र०]

नटराज का ताण्डव नृत्य

□ संतराम वत्स्य

शिव नर्तक हैं, नटराज-राज हैं। वे नवरस रसिक हैं। 'शिवपादस्तव' में ऋषिगण सूत से पूछते हैं कि पुण्डरीकपुर में जाकर जैमिनी मुनि ने क्या किया ? सूत बताते हैं कि सभा में नृत्य करते भगवान् शिव को वहां उन्होंने देखा। शिव के इस नृत्य को 'ताण्डव' नाम दिया है। इसे अमृतमय और मंगलमय बताया है। एक ओर बैठी महादेवी इस नृत्य को मनोयोग से देख रही हैं। 'ललितासहस्रनाम' में श्रीभगवती को महा ताण्डव की साक्षिणी कहा है।

'प्रदोषस्तोत्र' में कहा है : कैलास पर्वत पर जगद्धात्री गौरी को सुवर्ण निर्मित और रत्न-जड़ित पीठ पर बिठाकर, शिव नृत्य करना चाहते हैं तो सभी देवता उसमें सम्मिलित होते हैं। सरस्वती वीणा, इन्द्र वेणु तथा ब्रह्मा करताल से ताल देते हैं, भगवती रमा गायन प्रारंभ करती हैं; विष्णु मृदंग बजाने लगते हैं। अन्य देवतागण उन्हें घेरकर खड़े हैं।

'शिव ताण्डवस्तोत्र' में रावण ताण्डवनृत्य का वर्णन करते हुए कहता है—'धिमि-धिमि' बजते हुए मृदंग के गंभीर मंगलघोष के क्रमानुसार (ताल पर) जिनका ताण्डव हो रहा है, उन भगवान् शंकर की जय हो।

महाकवि कालिदास 'मेघदूत' में मेघ को उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर के ऊपर से, प्रदोषनृत्य के समय गुज़रने को कहते हैं—"आरती के पश्चात् प्रारंभ होने वाले शिव के ताण्डव-नृत्य में तुम, तुरंत खिले हुए जपा-पुष्पों की भांति फूली हुई सन्ध्या की लाली लिए हुए शरीर से, वहां शिव के ऊंचे उठे हुए भुज-मण्डल रूपी वन-खंड को घेरकर छा जाना।"

पर जिस नटराज मूर्ति ने इतनी लोकप्रियता प्राप्त की है कि वह यत्र-तत्र-सर्वत्र दिखाई देने लगी है, उसकी निर्मिति का आधार है—'नटराज-सहस्रनाम' और दक्षिण के शिवागम और इस विश्वनाट्य के अर्थों से पूर्व-पश्चिम को परिचित कराने का श्रेय है मनीषी आनन्द कुमार स्वामी को। उनके 'डांस ऑफ शिव' नामक निबन्ध के माध्यम से अध्येताओं ने 'नटराज' प्रतीक के अन्तर्निहित अर्थों को जाना।

श्री भगवत्पाद शंकर प्रणीत 'अर्धनारी नटेश्वर स्तोत्र' में तांडवनृत्य को सर्व-संहारक कहा है। इसके विपरीत शिवा के लास्य नृत्य को प्रपंच की सृष्टि करने वाला बताया गया है। आगे हम देखेंगे कि पंच कृत्य (सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह) इन सबके विधाता वे स्वयं ही हैं।

नटराज ने एक बार नृत्य के अन्त में चौदह बार डमरू बजाया। उससे चौदह सूत्र निकले, जिनके आधार पर पाणिनि ने व्याकरण की रचना की। इन सूत्रों को 'माहेश्वर सूत्र' कहा जाता

है। 'सर्वे वर्णः शिवात्मकः' के अनुसार समस्त वाङ्मय ही शिवस्वरूप है।

शिव और शक्ति अभिन्न हैं। जैसे अग्नि और उसकी दाहक शक्ति, जैसे चन्द्रमा और चांदनी, जैसे जल और तरंग। प्रकाश और विमर्श शिव और शक्ति ही हैं। शंकराचार्य ने 'सौंदर्य लहरी' में कहा है कि शक्ति के बिना शिव शवमात्र रह जाते हैं और उनमें स्पन्दित होने का भी सामर्थ्य नहीं रहता। यह परात्पर ब्रह्म की निर्गुण अवस्था है। इन्हीं शवरूप शिव की छाती पर आरूढ़ होकर शिवा नृत्य करती हैं। जैसे चुम्बक की उपस्थिति में ही लौहकण सक्रिय होते हैं, वैसे ही शिव के सान्निध्य में शक्ति सक्रिय होती हैं। यह सृष्टि की अवस्था है। किन्तु जब शिव शक्ति को क्रोड़ीकृत कर लेते हैं तो यह संहार की स्थिति है। प्रकृति नटी की शान्त अवस्था।

जब नटराज राज उद्धत ताण्डव करने लगते हैं और उठाए हुए पैर को आघातपूर्वक धरती पर रखते हैं, तो वह डांवाडोल हो जाती है। और जब अपने भुजदण्डों को, नृत्यभंगी में आकाश में घुमाते हैं तो ग्रहगण थपेड़े खाकर इधर-उधर लुढ़कने लगते हैं। उनके बिखरे जटा-कलाप के छोरों से ताड़ित होकर स्वर्ग भी अपनी स्थिति से भ्रष्ट होकर डगमगाने लगता है।

नटराज के ताण्डव की इन झांकियों के बाद हम अपने वर्ण्य विषय नटराज की मूर्ति का अवलोकन करेंगे और उसके गर्भार्थ का मनन करेंगे।

नटराज की इन मूर्तियों की परम्परा का मुख्य केन्द्र भारत का दक्षिण प्रदेश है। बारहवीं शताब्दी में इन धातु मूर्तियों की रचना बहुतायत से हुई। प्रायः नटराज की दो तरह की मूर्तियां हैं—एक प्रभामंडल युक्त और दूसरी प्रभामंडल विहीन। प्रभामंडल युक्त चार भुजाओं वाली मूर्ति में ऊपर वाले दाहिने हाथ में डमरू है। निचला दाहिना हाथ अभयमुद्रा में उठा हुआ है। ऊपर वाले बाएं हाथ में अग्नि है और चौथा हाथ पाद प्रदेश की ओर संकेत कर रहा है। बायां पैर ऊपर उठा है और दाएं पैर के नीचे 'अपस्मार' पुरुष दबा पड़ा है। कमर में वस्त्रखंड है। काल सर्प लिपटा हुआ है। नटराज अर्धनारी नटेश्वर के रूप में हैं। उनका वामांग जो अभिन्न शक्ति का पार्श्व है, उसमें नारी सुलभ अलंकरण हैं और दक्षिण पार्श्व में पुरुषोचित। मुकुट मंडित शीर्ष में गंगा की धारा और बालचन्द्र सुशोभित हैं। यहीं कपाल भी देखा जा सकता है। जटाएं और अंगवस्त्र नृत्य के वेग से फैलकर प्रभामंडल का स्पर्श कर रहे हैं। नटराज यज्ञोपवीत धारण किए हैं। प्रभा-मंडल में पांच-पांच ज्वालाओं वाले ज्वालापुंज हैं। नटराज के नेत्र आनंदातिरेक से निमीलित हैं। इसे योग की भाषा में अमा-दृष्टि कहते हैं।

डमरू नाद-ब्रह्म का प्रतीक है। वाचकों की महासमष्टि रूप से एकीभूत स्थिति का नाम नाद है। अभय मुद्रावाला हाथ रक्षा का प्रतीक है भगवान् भक्त भयहारी हैं। अग्नि पावक भी है और संहारक भी। पाद प्रदेश की ओर संकेत करता हाथ-शरणागतों-चरणों का आश्रय लेने वालों को मुक्ति रूप वर प्रदान करने वाला है। दाएं पैर के नीचे दबा हुआ 'अपस्मार' पुरुष महामोह का प्रतीक है। इस महामोह का शमन भगवान् की अनुग्रह शक्ति है। जब तक महामोह का शमन नहीं होता जीव शिवत्व लाभ नहीं कर सकता। अंगवस्त्र और नाग दिक् और काल के प्रतिनिधि हैं।

अर्धनारी नटेश्वर के इस नृत्य का नाम 'नादान्त' है। शिव के अन्य नृत्यों में प्रदोष नृत्य, और श्मशान नृत्य उल्लेखनीय हैं।

शिव-पुराण का अनुशीलन करने पर उनके अन्य अवसरों पर भी ताण्डव करने का वर्णन

है। अन्यत्र इन सात ताण्डवों का भी उल्लेख है—आनन्द ताण्डव, संध्या (प्रदोष) ताण्डव, कालिका ताण्डव, त्रिपुर दाह ताण्डव , गौरी ताण्डव, संहार ताण्डव और उमा ताण्डव।

शिव ताण्डव के बारे में दक्षिण के शैवागम में जो कथाएं उपलब्ध हैं, उनका उल्लेख मनीषी आनन्द कुमार स्वामी ने अपने निबन्ध में किया है।

सामान्य रूप से सृष्टि, स्थिति और संहार ये तीन कार्य ईश्वर करता है। पर शैवागम इनमें 'निग्रह' और 'अनुग्रह' दो और कृत्य जोड़ता है और इस तरह यह संख्या पांच हो जाती है। 'नमः शिवाय सततं पंचकृत्य विधायिने' इन पांचों कृत्यों की उपलब्धि नटराज की इस मूर्ति में होती है। यह स्मरण रहे कि ये पांचों कृत्य एक साथ हो रहे हैं। शिव की प्रकट मूर्ति इस विश्व में भी यह बात स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। सृष्टि में नये-नसे नाम-रूपों का सृजन सतत् होता ही रहता है। फिर सृष्ट नाम-रूप परिमित कालाब्धि में अपनी स्थिति बनाए रखते हैं और अन्त में नष्ट हो जाते हैं। शेष दो कृत्य—'निग्रह' और 'अनुग्रह' जो शैवागम की विशिष्टता है, कुछ अधिक विचार की अपेक्षा करते हैं। जीव दशा ही 'निग्रह' की स्थिति है। इसमें 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्' का खेल होता रहता है। यह भवसागर है। त्रोटकाचार्य ने कहा है कि 'भगवनुदधौ मृति जन्म जले'। भवसागर में मृत्यु और जन्म रूपी जल भरा हुआ है। जीव मात्र इस भवसागर में गोते खा रहे हैं। कोई तरणोपाय नहीं है।

गोस्वामी जी ने कहा है: 'तुम्हारी कृपा पाव कोई-कोई।' भगवद्कृपा से कोई-कोई इस भवसागर से तर पाता है। भगवान् अनुगृह (कृपा) शक्तिपात को ही जीवोद्धार का कार्यक्रम कहते हैं। भगवान् की अनुग्रह-शक्ति ब्रह्मविद् महात्माओं के माध्यम से चरितार्थ होती है।

श्रुति ने कहा है: 'ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति'। जो ब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। 'जानत तुमि तुमह होई जाई'। सद्गुरु ही भगवान् की अनुग्रह मूर्ति है। जगद् गुरु श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि मैं उनका मृत्यु रूपी संसार सागर से उद्धार कर देता हूं।' पशुपति शिव ही गुरु रूप में प्रकट होकर जीव के पाश को काटते हैं। श्री गुरु नानक देव ने इस स्थिति को दर्शाते हुए अपनी वाणी में कहा है: 'कहु नानक गुरु बन्धन काटे, बिछुरत आन मिलाया।' जीव का शिव से वियोग हो गया था। सद्गुरु ने संयोग करवा दिया।

अनुग्रह मूर्ति सद्गुरु का कार्य है—शिष्य के संसार-प्रपंच को हर लेना। इसी से वे 'हर' है। संसार का यह हरण, उसके स्वरूप का हरण न होकर संसार की आसक्ति का ही हरण है और तब वे शिष्य के हृदय को श्मशान बना देते है और वे स्वयं उस श्मशान में आ बिराजते हैं। और फिर आनन्द-लहरी के उच्छलन से नृत्य करने लगते हैं।

एक साधक ने भगवती काली से प्रार्थना की है: "मां! मेरे हृदय में दिन-रात चिता प्रज्वलित रहती है। तुम्हें श्मशान प्यारा है, इसलिए मैंने अपने हृदय को श्मशान बना लिया है।"

आद्य शंकराचार्य कहते हैं कि मूलाधार में जगदम्बा लास्य नृत्य कर रही हैं। उनका यह लास्य सृष्टि-उन्मुख है। वे प्रपंच को सींचती रहती हैं। स्त्री मात्र जगज्जननी की लीला का ही विस्तार है।

'शिव महिम्न' में भगवान् शंकर के नृत्य का उद्देश्य जगत्-रक्षा बताया है।"

'संहार' शब्द का हमारा परिचित अर्थ भय की सृष्टि करता है। पर जगन्नाट्य को 'लीला' स्वीकार कर लेने पर भय तिरोहित हो जाता है।

यह नृत्य आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों स्तरों पर हो रहा है।

आधिभौतिक और आधि दैविक स्तर पर द्यावापृथ्वी में पंचकृत्यकारी महानट प्रतिक्षण नृत्य निरत रहते हैं।

शिव सहस्रनाम में उन्हें एक साथ 'नृत्यप्रिय', नित्य-नर्त' और 'नर्तक' कहा गया है। नृत्यप्रिय रूप में वे प्रकृतिनटी के नृत्य के साक्षी-द्रष्टा हैं। साथ ही वे स्वयं नित्य नृत्य करते रहते हैं। मृदंग और डमरू उनके प्रिय वाद्य हैं। ये शब्द ब्रह्म के प्रतीक हैं। 'आदौ भगवान् शब्द राशिः'। आदि में भगवद् सत्ता शब्दराशि के रूप में अभिव्यक्त होती है। इसी से वाच्य और वाचक-वाग् और अर्थ की सृष्टि होती है। 'वागर्थाविव संपृक्तौ' कहकर कालिदास ने इसी रूप का स्मरण किया है। समस्त वांगमय—वेद-शास्त्र-पुराण, काव्य और विविध भाषाएं और सातों स्वर बैखरीनाद रूप भगवती से ही उत्पन्न होते हैं।

स्व० स्वामी विष्णु तीर्थ जी लिखते हैं: "ऐसा प्रतीत होता है, मानो प्रकृति देवी ने अपने स्वाभाविक सौन्दर्य का प्रदर्शन करने के लिए ही इस विश्व की रचना की है। तारागण रूपी हीरे-माणिक्यों से जटित आकाश जिसका मुकुट है, तेज पुंज सूर्य-चन्द्र और अग्नि जिसके तीन नेत्र हैं, अन्तरिक्ष जिसका वक्षस्थल और विश्व की चित्र-विचित्र विविध रचनाएं जिसके शृंगार हैं और जिसके रूप-लावण्य की छाया सर्वत्र बसी हुई है, जिसकी अंगप्रभा सर्वत्र चमक रही है, ऐसा यह विश्व उस भगवती की समस्त सौन्दर्य राशि का विकास ही तो है।"

नटराज के आध्यात्मिक अर्थ पर भी विचार कर लिया जाए। शिवसूत्र में कहा है: 'नर्तक आत्मा।' आत्मा नर्तक है। यह 'आत्मा' शब्द 'आत्मा', 'अन्तरात्मा' और 'परमात्मा' तीन रूपों में प्रयुक्त हुआ है। शंकराचार्य जी ने कहा, "आत्मा त्वम्" आत्मा तू है। क्षेमराज ने इस सूत्र की व्याख्या में लिखा है कि अन्तर्निगूहित स्व स्वरूप अवष्टम्भमूल जाग्रत-स्वप्न और सुषुप्ति की अनेक भूमिकाओं में स्वपरिस्पन्द को अपनी ही भित्ति पर प्रकट करता है, वह 'नर्तक आत्मा' है। नर्तक भी गात्र विक्षेप द्वारा अपने भीतर स्थित नाट्य को, अपने से अपने में ही प्रकट करता है और समस्त नाट्य अनुक्षण परिवर्तित होता रहता है। काल राज्य में यह नित्य नर्तन सदैव होता रहता है। इस नाट्य के अभिनय के लिए रंगशाला भी तो चाहिए। अगले सूत्र में कहा है: 'रंगो अन्तरात्मा'। अन्तरात्मा ही रंगशाला है। यह अन्तरात्मा 'जीव' है। पुर्यष्टक(रूप,रस, गंध, शब्द, स्पर्श, मन-बुद्धि-अहंकार) द्वारा सब योनियों में विचरण करने वाला 'अन्तरात्मा' है।

नर्तक और रंगशाला के बाद प्रेक्षकों की आवश्यकता का भी शिव सूत्र समाधान करता है। 'प्रेक्षकाणि इन्द्रियाणि'। इन्द्रियां प्रेक्षक हैं।

इतनी बड़ी रंगशाला में हो रहे इस नाट्य का उपसंहार भला दूसरा कौन कर सकता है। इसलिए भट्ट नारायण ने स्तवचिंतामणि में कहा: 'हे हर! बीज-बिन्दु-पताका-प्रकरी वाले इस त्रैलोक्य नाटक को आपसे भिन्न कौन उपसंहार करने में समर्थ हो सकता है।"

दक्षिण में, जहां नटराज विषय की प्रभूत सामग्री है और इस प्रतीक मूर्ति का निर्माण भी कहीं हुआ है, इस नृत्य को 'नादान्त' कहा है। यह 'नादान्त' क्या है? कोशों में मुझे यह शब्द नहीं मिला।

आनन्द कुमार स्वामी लिखते हैं: "ब्रह्माण्ड में जो कुछ वस्तु मिलती है, उसको हिलाने वाली शक्ति का मूल स्रोत यही नृत्य है। इस विश्व का द्योतक प्रभामंडल है। दूसरे असंख्य

जीवात्माओं को माया के बन्धन से मुक्त करना ही इस नृत्य का उद्देश्य है। तृतीय, नृत्य का स्थान विश्व का केन्द्र 'चिदम्बरम्' हृदय के भीतर है।"

नारायण सूक्त में कहा है : "हृदयं तद् विजानीयात् विश्वस्यायतनं महत्।" विश्व के आयतन के रूप में हृदय को जानें।

ऊंकार साधन के प्रसंग में स्व० म० म० कविराज गोपीनाथ लिखते हैं कि "योगियों का परम प्रयोजन है—इस भेद-दृष्टि तथा विकल्पमयी सृष्टि का उल्लंघन करके शुद्ध बोधात्मक स्वातम स्थिति में प्रवेश। इसके लिए उपाय तो बहुत-से हैं, किन्तु सबसे सरल और सुगम उपाय नादानुसन्धान माना जाता है। यह नाद वस्तुतः और कुछ नहीं, वर्णों की समष्टि भावापत्ति के अनन्तर तथा अष्ट वर्गीय शक्तियों के एकीकरण के अनन्तर अभिन्न रूप से स्फुरण है। मंत्रशास्त्र में जिसे मंत्र-चैतन्य कहते हैं, वह वस्तुतः इस प्राणमय नाद शक्ति का ही आविर्भाव है। शास्त्र में कहा है कि यावत् मंत्रों की परमाकृति प्रणव या ऊंकार ही है। इस प्रणव में अकार, उकार, मकार, बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना तथा उन्मना ये द्वादश अंश हैं। जप के द्वारा अथवा भावना के द्वारा या और किसी योग क्रिया के द्वारा इस उन्मना पद तक आरोहण आवश्यक है।"

अकार से प्रारंभ करके आरोहण क्रम में नादान्त अष्टम सोपान है। यह सब साधन-राज्य का विषय है और ध्यान-योग द्वारा गम्य है। नादान्त नृत्य और ऊंकार की द्वादश मात्राओं में परिगणित नादान्त एक ही होने चाहिए, यह मेरा अनुमान है।

नृत्य काली भी करती है। वह भी श्मशान नृत्य है। कालरात्रि के नृत्य पर योग वासिष्ठ में विस्तार से देखा जा सकता है। भगवद् सत्ता न तो पुरुष है न नारी और न नपुंसक। काली भी परब्रह्म स्वरूपा हैं। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।' एक ही तत्व का ब्रह्मवेत्ता नाना रूपों में आख्यान करते हैं। इस नानात्व के पीछे अद्वैत तत्व का ज्ञान ही ज्ञानपदवाच्य है।

शिव जब अनुग्रह करते हैं तो अपना ही स्वरूप प्रदान करते हैं। तभी 'शिवोऽहम् : अहं ब्रह्मास्मि रूप आत्म-प्रतीति होती है।

संक्षेप में, अर्धनारीनटेश्वर के नृत्य का यह तात्विक स्वरूप है। यही उसका आध्यात्मिक अर्थ है।

[के-47, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032]

अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता पंडित संतराम वत्स्य

□ डॉ० ओम्प्रकाश सारस्वत

बहुत कम लोग ऐसे होते हैं, जो जैसे अन्दर से हों, वैसे ही वाहर भी। 'मनसा-वाचा-कर्मणा' 'एक-समान व्यक्तित्व' वाले लोगों का आज बड़ा अभाव है। आज जबकि 'कहो कुछ, तो करो कुछ' और 'करो कुछ, तो कहो कुछ' जैसे दमनकी नुस्खे ही जीवन के महामन्त्र हो गए हैं तब ऐसे में ऐसे लोगों की स्मृति का आ जाना स्वाभाविक है जो जीवन को किन्हीं मूल्यों पर चलाने की चिन्ता करते रहे और उन पर चलते भी रहे। विना उच्च मूल्यों के जीवन का कोई महत्व नहीं। यूं 'कुछ भी करके' और 'कैसे भी जी लेना' किसे नहीं आता। पर लोग, 'कुछ' का नहीं, 'विशिष्ट' का संस्मरण करते हैं।

पंडित सन्तराम जी वत्स्य, निसर्गतः एक ऐसे व्यक्ति थे जिनकी स्मृति जीवन को प्रेरणा और क्रियाशीलता देती है। वे आजीवन 'खरेखन' के मुरीद रहे। 'खरापन' यथार्थता का दूसरा नाम है। जीवन-भर 'यथार्थ का अनुसरण सबके बूते की बात नहीं। कहा भी तो है—'अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः।'' पंडित जी ऐसे ही दुर्लभ व्यक्तियों में से एक थे।

वत्स्य जी के साथ मेरी पहली मुलाकात सन् 1977 में हुई जब वे 'हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी' की (संभवतः) 'अधिशासी समिति' की बैठक में भाग लेने शिमला आए हुए थे। 'अकादमी' की 'साधारण सभा' और 'अधिशासी समिति' दोनों के ही वे सम्मान्य सदस्य थे। अकादमी की कर्म-योजनाओं एवं उसके 'स्वरूप' निर्माण में वत्स्य जी की राय बहुत अहमीयत रखती थी।

कई लोगों का ऐसा व्यक्तित्व होता है जिसे आप अकारण ही एकदम 'सिलेक्ट' या 'रिजेक्ट' कर देते हैं। किसी आदमी को देखकर आपको लगता है कि अमुक व्यक्ति मुद्दतों से आपका परिचित है, अपना है। और किसी व्यक्ति से आप अरसे से परिचित होकर भी उसे अपना नहीं कह पाते। किसी के प्रति सहज उमड़ी यह आत्मीयता जरूर किसी अज्ञात किन्तु पूर्व कारण का परिणाम होती है। महामनस्वी इस बात को जानते हैं। कवि-श्रेष्ठ कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में कहा है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्,
पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति, नूनमबोधपूर्वम्,
भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि॥

अर्थात् कभी जब किन्हीं मनहर चेहरों को देखकर और किसी के मन-प्राणों तक उतर जाने वाले मधुर शब्दों को सुनकर, एक भला-चंगा व्यक्ति भी व्याकुल हो उठता है तब इसके कारण

के बारे में वह रह-रह कर सोचता है; किसी कारण परम्परा का स्मरण करता है परन्तु कालिदास कहते हैं कि यद्यपि वह कारण उसे ज्ञात नहीं होता किन्तु इस व्याकुलता के पीछे निश्चय से ही जन्म-जन्मान्तरों के ऐसे स्नेह सम्बन्ध (सौहृदानि) होते हैं जो व्यक्तियों के मनों में वासना के रूप में स्थित होते हैं। अर्थात् वासनारूप से स्थित वे भाव ही जन्म-जन्मान्तरों के स्नेहांकुरों को तत्काल पल्लवित कर देते हैं और व्यक्ति रमणीय और श्रवणीय के प्रति आकुल हो उठता है। वत्स्य जी को पहली ही बार देखते पता नहीं क्यों लगा था कि ये मेरे जाने कब से परिचित हैं! पहले ही परिचय में, बिना किसी औपचारिकता के, मैंने उनसे ढेरों, साहित्यिक और व्यक्तिगत बातें कर डाली थीं।

आयु और लेखन में वत्स्य जी मेरी पितृ पीढ़ी के ही आस-पास थे परन्तु उम्र और लेखन के इस अन्तराल और वरिष्ठता को उन्होंने कभी महसूस नहीं होने दिया। अपने स्नेह, सद्भाव और अधिकार को उन्होंने कभी कम नहीं होने दिया। वे 'खरा' कहते और कभी-कभी 'खरी-खरी' भी सुना देते। आदमी 'खरा' वहीं कहता-सुनता है जहां वह अपना कुछ अधिकार मानता है।

हिमाचल प्रदेश के ज़िला कांगड़ा की तहसील पालमपुर के गांव, 'धनीरी' में जन्मे श्रीसन्तराम वत्स्य किन्हीं परिस्थितियों वश विधिवत् केवल 'विशारद' (संस्कृत) तक ही शिक्षा ग्रहण कर पाये थे। यद्यपि उन दिनों 'विशारद' का बड़ा मान था। 'विशारद' पास संस्कृज्ञों को संस्कृत-अध्यापकों तथा सेना में 'पंडित' के पद आसानी से मिल जाते थे। किन्तु पंडित जी ने 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' होने के कारण कोई ऐसी आजीविका नहीं स्वीकारी। विद्यार्जन की अवशिष्ट, अधूरी बची लालसा ने उन्हें अन्ततः दिल्ली के एक प्रकाशक के यहां 'पांडुलिपि-अवलोकन / संशोधन और पुस्तक-विक्रय' कार्यों से सम्बद्ध कर दिया। इससे उन्हें एक ओर विभिन्न लेखकों की पुस्तकों/पांडुलिपियों को पढ़ने; उनकी रचना प्रक्रिया से अवगत होने का अवसर मिला और दूसरी ओर लेखन की जो आकांक्षा और बीज उनके मन में अवस्थित थे उन्हें पल्लवित होने का मौका मिला। इसी प्रकाशक के यहां रह कर पंडित जी ने पाठ्य तथा बाल पुस्तक लेखन का कार्य प्रारम्भ किया और अपनी प्रतिभा तथा सूझ के बल पर इस क्षेत्र में प्रभूत-प्रतिष्ठा अर्जित की। कई वर्षों तक दिल्ली, हरियाणा, पंजाब और हिमाचल के स्कूलों में श्री सन्तराम वत्स्य जी की पाठ्य पुस्तकें लगीं रहीं और बाल-साहित्य के क्षेत्र में तो पौने दो-सौ के करीब पुस्तकें लिखकर वत्स्य जी ने अपना नाम साहित्यकारों में ही नहीं अंकित कराया अपितु बाल-साहित्य की एक प्रकार से उपेक्षित या नगण्य-सी विधा को समृद्ध भी किया।

बाल-साहित्य के क्षेत्र में पंडित जी ने जहां अनेक रोचक, शिक्षाप्रद, प्रेरक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक-कर्तव्यबोध युक्त मौलिक पुस्तकों की रचना की वहां उन्होंने विवेकानन्द, शंकराचार्य तथा अनेक प्रसिद्ध वैज्ञानिकों की जीवनियों के साथ-साथ रामायण तथा महाभारत जैसे अमर ग्रन्थों के बाल-संस्करण भी सरल-रुचिकर शैली में प्रकाशित किये। बाल-साहित्य का कोई समीक्षक वत्स्य जी की पुस्तकों की चर्चा किए बिना आगे नहीं बढ़ सकता। अनेक शोध-ग्रंथों में श्री सन्तराम जी वत्स्य की देन का ज़िक्र है।

वत्स्य जी का योगदान बाल-साहित्य के ही क्षेत्र में नहीं है अपितु दूसरी तरह के गम्भीर, प्रौढ़-साहित्य के क्षेत्र में भी उनका अवदान स्मरणीय है। ललित निबन्धों की आधुनिक विधा में उनका निबन्ध संग्रह 'अमलतास के फूल' विद्वानों में खासी चर्चा का विषय रहा। 'अमलतास

के फूल' निबन्ध-संग्रह के निबन्ध हजारीप्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र और कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों की कोटि और टक्कर के सरस, भावपूर्ण निबन्ध हैं। समाज की विसंगतियों और विडम्बनाओं को देखकर अब उनका मन व्यंग्य-विद्रोहपूर्ण हो चला था। इधर 'अथ कुत्ता प्रसंग' आदि अनेक व्यंग्य निबन्ध चर्चा की परिधि में थे।

वत्स्य जी की साहित्यिक मित्र मंडली उन्हें 'शब्द प्रयोग-पारीण' मानती थी। एक-एक शब्द पर गहन विमर्श उनकी विशिष्टता थी। संस्कृत के खासे पंडित होते हुए भी उनकी भाषा में आवश्यकतानुसार, अंग्रेजी, उर्दू तथा हिन्दी के अनेक शब्दों का प्रयोग मिलता है। पंडित जी चन्द्रधर शर्मा गुहेरी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, वासुदेवशरण अग्रवाल, तथा कुबेरनाथ राय के भाषा प्रयोगों के कायल थे।

सन् 1977-78 में मैंने अपने कुछ साहित्यिक मित्रों के सहयोग से 'हिमाचल-साहित्य एवं कला परिषद्, साहित्यिक संस्था चलाई थी। उसकी प्रति रविवार बैठक होती थी। बैठक में प्रति रविवार (शिमला में) साहित्यकारों के अतिरिक्त एक कोई भी अधिकारी विद्वान् अपने विचार रखने के लिए आमन्त्रित किया जाता था। मुझे याद है वत्स्य जी ने परिषद् के साहित्यिक और सौहार्दपूर्ण माहौल को देखकर उसमें कई बार अपने विचार रखने की कृपालुता ही नहीं दिखाई अपितु परिषद को और शक्तिमान करने के लिए अनेक सुझाव भी दिए। यह वत्स्य जी की ही प्रेरणा थी कि परिषद् डेढ़ साल के अन्दर ही एक ऐसा अविस्मरणीय आयोजन कर सकी जिसमें तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्री शान्ताकुमार के अतिरिक्त श्री शिवमंगल सिंह सुमन, विश्व प्रकाश दीक्षित बटुक, ओमप्रकाश आदित्य, बजरंग जैसे साहित्यकारों ने अपना काव्य पाठ किया।

पंडित जी अपने सम्पर्क में आए हरेक उस व्यक्ति को प्रेरणा देते जो उन पर भरोसा करता। बाद में जब कुछ सरदूद, तथाकथित साहित्यकर्मियों की हरकतों से परिषद् की बैठकों का क्रम टूट गया तो वत्स्य जी ने मुझे कहा कि 'क्यों आप इन सबके लिए पायदान बिछाने में लगे हो। क्यों नहीं आप, अपनी कविताओं का कोई संग्रह ही निकलवा देते।' सच मानिए, प्रकाशन के विषय में तब तक मैं न तो अनुभवी ही था और न ही उत्सुक ही। यह पंडित जी की प्रेरणा का ही परिणाम था कि मैंने उनके निवास स्थान (नवीन शाहदरा) में ही अधिकांशतः रहकर, उन्हें एक प्रकार से दुःख देते हुए अपना प्रथम कविता संग्रह—'एक टुकड़ा धूप' छपवाया जिस पर, हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी की पुरस्कार योजना के प्रथम आयोजन पर 'प्रथम पुरस्कार' भी मिला। पुस्तक के अन्तिम प्रूफ तक उन्होंने अपने अतिरिक्त अपने विद्वान् जामाता डा० मनोहरलाल तक को लगाए रखा था। मैं इस सबसे; इस अकारण स्नेह से तब भी अभिभूत था और आज भी विनत हूं। यहां कितने लोग हैं जो दूसरों की खुशी में शरीक ही नहीं होते अपितु उसके अवसर भी जुटाते हैं?

पंडित जी के सम्बन्ध में कितनी ही बातें हैं और कितने ही संस्मरण यहां इस समय तो इतना कहना ही संगत है कि पंडित सन्तराम जी वत्स्य के गोलोकवास की खबर जब मैंने दिल्ली में अपने एक प्रकाशक के यहां सुनी तो मन सहसा विश्वास नहीं कर सका। उनके आवास पर जाकर देखा तो शोर से पूरित उस कमरे में जहां कभी स्नेहपूर्ण आशीर्वाद और आत्मीयतापूर्ण डांट मिलती थी, अब उसकी छविमात्र (छाया-चित्र) चौकी पर विद्यमान थी और जो मानो कह रही थी, "अरे बहुत हो लीं इस लोक की बातें। अब उस लोक की चिन्ता करने दो"। पंडित जी इन दिनों आत्मा, परमात्मा, परलोक, ध्यान, समाधि और मुक्ति पर अधिक विचारने लग गए थे। उनकी पुण्य स्मृति को नमन्।

[ओवर-विला, कैंथू, शिमला-171003]

विषुव का त्यौहार : विशु-बसोआ

□ डॉ० विद्या चन्द ठाकुर

बसन्त के आगमन के साथ ही प्रकृति विविध श्रृंगारों से अलंकृत होकर वातावरण में सर्वत्र एक सम्मोहन पैदा करती है और उसी बीच सूर्यदेव विषुवत् रेखा में प्रवेश करते हैं तथा इसी के साथ ही चैत्र मास में भारतीय मान्यता के अनुसार नये वर्ष का शुभारम्भ होता है । नव-वर्ष के उल्लास में इन दिनों मेले और त्यौहारों के आयोजनों की अटूट परम्परा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। इस परम्परा की मौलिक अवधारणा के साथ कालान्तर में समय-समय पर कुछ अन्य प्रासंगिक संदर्भ भी जुड़ते रहे और परम्परा संश्लिष्ट होती चली आई। हिमाचल प्रदेश में भी चैत्र-वैशाख के महीनों में इसी उपलक्ष्य से विशु एवं बसोआ के मेलों की रंगीनियां रहती हैं।

हिमाचल के विभिन्न स्थानों पर स्थान भेद से इस त्यौहार को विशु, विरशु, बिसु तथा बसोआ आदि अनेक नामों से जाना जाता है । ये सभी नाम 'विषुव' शब्द से व्युत्पन्न हुए हैं। शरद् और बसन्त ऋतु के मध्य में जब सूर्य का तुला एवं मेष राशि में प्रवेश होता है, उस समय दिन और रात्रि समान हो जाते हैं। इस स्थिति काल को 'विषुव काल' कहा जाता है :—

शरद्वसन्तयोर्मध्ये विषुवं, तु विभाव्यते ।
तुलामेषगते भानौ समरात्रि दिनं तु तत् ।। विष्णु पुराण 2/8/68 ।।

पुराण शास्त्रों में वर्णन आता है कि पृथ्वी-लोक में श्रृंगवान् नाम से विख्यात पर्वत के तीन श्रृंग हैं। जिनमें एक श्रृंग उत्तर में, एक दक्षिण में तथा एक मध्य में स्थित है । मध्य स्थित श्रृंग 'वैषुवत्' कहलाता है। शरद् और बसन्त ऋतु की कालावधि के बीच सूर्य इस वैषुवत् श्रृंग पर स्थित होकर रात्रि और दिन का परिमाण समान कर देते हैं । विषुव काल से ख्याति प्राप्त सूर्य का यह स्थिति-काल बहुत पवित्र माना जाता है और इस समय में बहुविध पर्व त्यौहारों का आयोजन होता है ।

विषुव कालों में वासन्तिक विषुव काल किसी-न-किसी प्रकार से पूरे भारत वर्ष में हर्षोल्लास से मनाया जाता है। परन्तु, कुछ स्थानों पर न्यूनाधिक रूप में शारदीय विषुव काल मनाने की परम्परा भी प्रचलित रही है। आसाम में कार्तिक प्रतिपदा और बैशाख संक्रांति को इस त्यौहार को 'विहु' के नाम से मनाते हैं। कार्तिक मास के शारदीय विहु को यहां 'कंगाली विहु' तथा बासन्तिक विहु को 'रंगाली विहु' कहते हैं। कंगाली विहु के समय कृषकों के घरों में धन-धान्य के अभाव की स्थिति रहती है, अतः इसे शान-शौकत से नहीं मनाया जाता। लोग

घरों में साधारणतः घी अथवा तेल के दीपक जलाकर परम्परा का निर्वाह करते हैं।

वैशाख संक्रान्ति को रंगाली विहु का आयोजन आसामवासी बड़ी धूम-धाम से करते हैं। इनका यह आयोजन सप्ताह भर चलता है। इस अवसर पर जगह-जगह विहुतली (बिहु-स्थली) बनायी सजायी जाती है। जहां पर कि नृत्य संगीत एवं लोकानुरंजन के विविध कार्यक्रमों की धूम मची रहती है। केरल और तमिलनाडू में भी वैशाखी के अवसर पर यह त्यौहार 'विशु' नाम से आयोजित होता है। इन राज्यों के समुद्रतटीय लोग विशु के दिन प्रातः एक ऐसी नौका का दर्शन करते हैं, जिसमें अनाज, रुपये, आभूषण तथा कटहल के फल रखे होते हैं। यह नौका 'विशुकनी' कहलाती है। जन-विश्वास है कि विशुकनी के दर्शन से फसल का अच्छा उत्पादन होता है। विशु त्यौहार का सम्बन्ध इन प्रान्तों में धान की फसल बुआई के पर्व के रूप में भी जोड़ा जाता है। ऐसे ही पंजाब में गेहूं की फसल की कटाई से इस अवसर को जोड़कर वैशाखी मनायी जाती। वैशाखी त्यौहार पर पूरा पंजाब भंगड़ा और गिद्धा लोक-नृत्य से झूम उठता है।

हिमाचल प्रदेश में विषुव के मेले त्यौहार नव वर्ष आगमन से ही सम्बद्ध माने जाते हैं। इस त्यौहार को मनाने की शैली स्थान-भेद से भिन्न-भिन्न अवश्य है परन्तु, एक संदर्भ में सर्वत्र एकरूपता है कि सभी विषुव मेले-त्यौहार यहां स्थानीय देवी-देवताओं की प्रधानता में मनाये जाते हैं। यहां यह त्यौहार चैत्र मास से प्रारम्भ होकर ज्येष्ठ मास तक चलते हैं। कुल्लू घाटी में विषुव के मेले त्यौहार को 'विरशु' के नाम से जानते हैं। विरशु का त्यौहार कुछ स्थानों पर चैत्र संक्रान्ति को और कुछ स्थानों पर चैत्र प्रतिपदा को आयोजित होता है। अधिकांश स्थानों पर इसका आयोजन बैशाख संक्रान्ति तथा इसके बाद होता है। चैत्र मास के विरशु को यहां जेठा विरशु (ज्येष्ठ विरशु) तथा वैशाख मास के विरशु को कोन्हा विरशु (कनिष्ठ विरशु) कहा जाता है। जेठा विरशु में देवी सोमसी का सोमसी विरशु तथा कोन्हा विरशु में रूपी क्षेत्र के हवाई, श्याह, नीणू, कामांद के विरशु मेले प्रसिद्ध हैं। इन मेलों की विशिष्टता में नारी नृत्य की मन-मोहकता के दर्शन प्रमुख हैं। इस अवसर पर मात्र महिलाएं आकर्षक परिधानों में लुडी, बांठडा, चरासे-तरासे नामक नृत्यों की लय पर नाचती हैं और पुरुष नृत्य स्थल पर मात्र दर्शकों के रूप में सम्मिलित रहते हैं। विरशु के लोक-गीतों में इन मेलों के प्रति जन-मानस के गहरे लगाव की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। यथा—

कोण्डी रा ढोल बाजला भाणा,
विरशु नौचदे जाणा।
जाणा ता जा मेरियै धीयै,
खाणा ता खा खिचड़ु घीयै।

इस गीत में नव-विवाहिता लड़की जो मायके में आई है अपनी मां से कह रही है—"मां! जैसे कोट कण्डी की पर्वत चोटी पर ढोल और भाणा वाद्य-यन्त्रों से मोहक ध्वनि प्रसृत होती है, वैसे ही विरशु का सम्मोहक मेला लगा है। मेरा मन विरशु में नाचने को कर रहा है। इस पर मां कहती है कि बेटी! जाने की चाह है तो शौक से जाओ। स्वादिष्ट खिचड़ी और घी जाने से पहले अवश्य खा लेना।" विरशु के मेले इसी रूप में कुल्लू से लगते जिला मंडी के बालू सनोर क्षेत्र में भी मनाये जाते हैं।

कुल्लू शहर के सुलतानपुर बाजार के पीछे की पहाड़ी पर लगभग तीन किलोमीटर दूर

देवी भेखली के मन्दिर में बैशाख संक्रान्ति के दिन वृषभ (बैल) पूजन की प्रथा है। कहा जाता है कि पहले बैल का पूजन प्रति वर्ष होता था परन्तु, अब यह परम्परा देवी भेखली और देवता सारी नारायण की देवाज्ञा के अनुसार सात-आठ वर्षों के अन्तराल में एक बार निभायी जाती है। इस प्रथा में देवता सारी नारायण की ओर से प्रजनन शक्तिपूर्ण एक स्वस्थ बैल जो कि 'विरश' (वृषभ) कहलाता है, देवी भेखली को भेंट किया जाता है। भेखली मन्दिर में उसका यथा-विधि पूजन होता है और तदोपरान्त उसे गो-वंश वृद्धि के लिए मुक्त छोड़ दिया जाता है। यह विरश बेरोक-टोक जहां-कहीं जा सकता है। लोग इसे रोटी का टुकड़ा, गुड़, घास आदि बड़ी श्रद्धा के साथ खिलाते हैं। कुल्लू शहर में आज भी कभी कोई विशालकाय सांड निर्मुक्त घूमता हुआ दीखे तो वह निश्चित रूप से यही 'विरश' होता है। आसाम प्रान्त में भी बिहु के त्यौहार के अवसर पर बैल पूजन का विधान पाया जाता है। यहां बैशाख संक्रान्ति के दिन बैलों को नहला-धुलाकर पूजन किया जाता है। बैल के प्रति मंगल कामना व्यक्त करते हुए कहा जाता है—

लाओ खा, बैंगन खा, बछरि बछरि बढ़ि जा।
मार हरू, बपार हरू, तई हबि बर बर गरू॥

अर्थात् "लौकी खा, बैंगन खा, वर्ष प्रतिवर्ष बढ़ता जा।
मां छोटी, बाप छोटा, तू बन जा बड़ा मोटा॥"

वृषभ पूजन की इन प्रथाओं के दृष्टिगत विरशु मेले का सम्बन्ध एवं इस शब्द की व्युत्पत्ति वृषभ से ही प्रतीत होती है।

शिमला, सिरमौर तथा किन्नौर में यह त्यौहार विशु नाम से प्रसिद्ध है। किन्नौर के रिब्बा ग्राम का प्रसिद्ध विशु पहली तथा दो बैशाख को मनाया जाता है। पहली बैशाख का विशु जनता का मेला माना जाता है। इसे 'बड़ा विशु' के नाम से जाना जाता है। दो बैशाख के 'राजौ विशु' अर्थात् राजा का विशु होता है। पहले दिन रिब्बा का देवता स्किबा गांव में जाता है। वहां दिन-भर नाचने गाने का कार्यक्रम चलता है। शाम को देवता वापिस रिब्बा लौट आता है। दूसरे दिन राजौ विशु को 'केत' नाम के वृक्ष की टहनियों एवं पत्तियों से देवता का रथ बनाया जाता है। बाद में इस देवता को मेले में नचाते हैं। उस समय युवक-युवतियां देवता की टहनियां छीना-छपटी में निकाल लेते हैं और उनसे हंसी-मजाक में एक-दूसरे को मारते हैं। कुल्लू में गड़सा घाटी के नीणू विरशु में ऐसी ही प्रथा प्रचलित है। वहां नगाल की लकड़ियों तथा बुरास के फूलों से 'विट्ठ' नामक देवता का रथ बनाते हैं। उसे भी देव-प्रांगण में विधिवत् लाया जाता है। यहां पर लोग बुरास फूल छीनने के लिए छीना-झपटी करते हैं और इस प्रकार रथ को नष्ट कर देते हैं। इन रथों की टहनियां एवं फूल प्राप्त करना सौभाग्य सूचक समझा जाता है। किन्नौर चगांव के विशु में देवता के कारदार की नयी नियुक्ति होती है। यहां प्रत्येक चौथे वर्ष विशु के दिन 'बल' मनाया जाता है। बल में मन्दिर से सब पुराने देव हथियार बाहर निकालकर साफ किए जाते हैं। उसके बाद पुरुषों के दो दल बन जाते हैं और यह दल परस्पर बनावटी रण प्रदर्शन करते हैं।

शिमला तथा सिरमौर के विशु मेलों में भी रण-कौशल का प्रमुख प्रदर्शन होता है। इस रण कौशल प्रदर्शन को 'ठोडा' कहते हैं। इसका सम्बन्ध महाभारत काल से जोड़ा जाता है। ठोडा खेलने के क्षेत्र—'जुब्बड़' अर्थात् दूब भरे मैदान में दो ओर के योद्धा इकट्ठे होते हैं। एक पक्ष 'शाठी' और दूसरा पक्ष 'पाशी' कहलाता है। शाठी को कौरव के वंशज और पाशी को पांडव-

वंशज माना जाता है। एक पक्ष जुब्बड़ से दूसरे पक्ष को एक ऊंची आवाज़ लगाकर ललकारता है—

"अट्टे मेरेया ठोडेया...।"
(वाह ! मेरे ठोडे···।)

दूसरा पक्ष प्रत्युत्तर में उतनी ही ऊंची आवाज लगाकर कहता है—

"गुरू पुजा तेरे जुब्बड़ो दा···।"
(ठोडा मैदान, (जुब्बड़) में तेरा गुरू पहुंच गया है···)

ऐसे ही उत्तर-प्रत्युत्तर के क्रम में एक-दूसरे को चुनौतियां दी जातीं हैं। बाद में तीर-कमान के साथ ठोडा का खेल चलता है। जिस में प्रहार और बचाव का कौशल दर्शनीय होता है। लोगों का विशु मेले के प्रति कितना गहरा चाव रहता है। यह लोकगीत की अग्र पंक्तियों में स्पष्ट है—

असो बोलो जुब्बड़ो जाणा,
विशु बोलो मेले रा हामों चाओ।
शाठी बोलो पाशी रे खुंदो,
बाज़े बोलो गाज़े सित्ते आओ।

अर्थात् चलो ! हम जुब्बड़ चलेंगे। विशु मेला देखने का हमें बहुत चाव है। शाठी-पाशी के दोनों पक्ष वहां बाजे-गाजे की धूम-धड़ाक के साथ पहुंचेंगे।

विशु का त्यौहार चम्बा, मण्डी, कांगड़ा, बिलासपुर आदि क्षेत्रों में 'बसोआ' के नाम से विख्यात है। मण्डी में इसे 'लाहौला मेला' तथा कांगड़ा में 'रली मेला' भी कहते हैं। यह नाम भिन्नता कुछ अन्य महत्वपूर्ण प्रसंगों के जुड़ाव से उत्पन्न हुई है। विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से मौलिक रूप में यह मेले विशु या बसोआ ही हैं। जनश्रुति है कि मण्डी में 'लाहौला' नामक कन्या का विवाह उसके माता-पिता ने किसी अनमेल वर से सुनिश्चित कर दिया। कांगड़ा के कथा प्रसंग में लाहौला के स्थान पर 'रली' नामक कन्या का नाम आता है। अन्य वृत्तान्त दोनों क्षेत्रों में एक जैसा है। कन्या इस विवाह का विरोध करती रही, पर माता-पिता को मनवाने में वह सफल न हो सकी। तब पराजित मना कन्या ने आत्महत्या कर ली। इस आत्महत्या से सारा क्षेत्र दैवी-शक्ति का कोप-भाजन हुआ। कोप निवारणार्थ प्रायश्चित रूप में देव-आज्ञा से नया वर्ष प्रारम्भ होने पर कन्या के नाम से मेला लगवाने की परम्परा स्थापित की गई। कालान्तर में 'लाहौला' और 'रली' को देवी पार्वती का रूप माना गया और इनका पूजन शिव-पार्वती पूजन से प्रसिद्ध हो गया। इस परम्परा में गांव की कन्याओं द्वारा फाल्गुन के मासान्त में गोबर, मिट्टी, रूई, लकड़ी से तीन मूर्तियां बनायी जाती हैं। जिनमें एक लाहौला या रली की प्रतीक पार्वती, दूसरी उनके पति सैंकर की जो शिव रूप में माने जाते हैं। तीसरी मूर्ति 'वस्तु' नाम से अभिहित लाहौला एवं रली के भाई की मानते हैं। पूरे चैत्र मास में तीनों मूर्तियों की प्रतिष्ठित स्थान पर पूजा की जाती है। बैशाख संक्रान्ति को शिव-पार्वती का विवाह किया जाता है। मंडी के लक्ष्मी नारायण मन्दिर, पिंगला में इस अवसर पर प्रीतिभोज का भी आयोजन होता है। विवाह की रस्म पूरी करने के पश्चात् मूर्तियों को जलाशय में विसर्जित किया जाता है। इस विसर्जन विदाई बेला में बड़े मार्मिक गीत गाए जाते हैं। मंडी के लाहौला गीत में लाहौला के वियोग की पीड़ा इस रूप में व्यक्त हुई है—

बसोये रा ध्याड़ा बापुआ हो,
जुगा जुगा याद रैंहणा मेरेया बापुआ हो,
बसोये रा ध्याड़ा बापुआ हो।
पारलीया धारा ते तिन्न जणे उत्तरे,
आई गेई रे लाहौला रे रबारे बापुआ हो,
बसोये रा ध्याड़ा बापुआ हो।
न्हाई ता धोई लाहौला खूब सजाई हो,
सभ गहणे पहनी लाहौला सुहागण बणाई हो,
मुकी जांदै सारे चाओ, मेरे आ बापुआ हो,
बसोये रा ध्याड़ा बापुआ हो।
एकी पासे लाड़े री पालकी जे सजदी,
दुज्जे पासे ल-हौला री अर्थी जे सजदी,
आझूंआ दे बगी जांदै हड़ बापुआ हो,
बसोये रा ध्याड़ा बापुआ हो।
जुगा जुगा याद रैंहणा मेरेया बापुआ हो,
बसोये रा ध्याड़ा बापुआ हो।

इस लोकगीत में लाहौला का पिता के प्रति सम्बोधन है— मेरे बापू ! संक्रान्ति बसोये का दिन युग-युग याद रहेगा। पार की धार से तीन आदमी उतरे, उन्होंने लाहौला के विवाह सम्बन्धों को जोड़ा। विवाह के लिए लाहौला का हार-श्रृंगार किया गया परन्तु उसके तो इस अनमेल विवाह से सारे चाव समाप्त हो गये थे। अतएव उसने अपनी जान खो दी। एक ओर जहां वर की सुखपाल सजायी जा रही थी तो दूसरी ओर लाहौला की अर्थी सजायी जाने लगी। उस समय सारा वातावरण शोकमग्न हो गया। लोग आंसू भर-भर कर रोने लगे। मेरे बापू! ऐसा यह बसोये का दिन युगों-युगों तक याद रहेगा।

बसोआ के त्यौहार बैशाख संक्रान्ति के दिन अनेक स्थानों पर पर्व-स्नान की भी समृद्ध परम्परा पायी जाती है। 'तत्तापाणी' तथा 'मार्कण्डेय' तीर्थ स्थलों पर असंख्य श्रद्धालु इस अवसर पर स्नान करते हैं। मंडी और शिमला के कुछ भागों तथा बिलासपुर एवं सोलन में बसोआ के दिन शक्कर-चीनी का शर्बत लोगों को पिलाना पुण्य-कर्म समझा जाता है। एक प्रथा के अनुसार इन क्षेत्रों में जल से भरे कलश में कुछ सिक्के डालकर तथा उस पर भल्ले, ऐंकलू, बबरू आदि पकवान रखकर कलश-पूजन किया जाता है। बाद में यह पकवान नव वर्ष की मंगल कामना की भावना से अन्य दान सामग्री के साथ ब्राह्मणों को भेंट किये जाते हैं।

चम्बा जनपद में बसोआ का त्यौहार चैत्र-बैशाख मास में मनाया जाता है। 15 चैत्र को रानी सूही के मेले के साथ ही यहां बसोआ प्रारम्भ होता है। जैसा कि लोक गीत से स्पष्ट है—

आया बसोआ माए, सूहीयां लगियां,
मैं सूहीयां देखण जाणा हो।

अर्थात् "मां ! बसोआ आ गया है। सूही के मेले चल पड़े हैं। मां ! मैंने सूही मेले देखने जाना है।"

बसोआ का मुख्य त्योहार यहां भी वैशाख संक्रान्ति के दिन मनाया जाता है। इस दिन 'धी-बेटियां' अपने-अपने मायके में पहुंच कर कोदरे के आटे के विशेष पकवान 'पिंदड़ी' को बड़े चाव एवं स्नेह भाव से ग्रहण करती हैं। गांव-गांव के प्रांगण इस दिन 'घुरेही' नृत्य से झूम उठते हैं। कुल्लू के विरशु नृत्य की भांति चम्बा के घुरेही नृत्य में मात्र महिलाएं ही भाग लेती हैं। बसोआ के त्यौहार के लिए सब महिलाएं अपने मायके जाने की तैयारी कर रही हैं परंतु, सास के विमुख व्यवहार के कारण एक नव-विवाहिता वधू की मायके जाने की आस टूट जाती है। मायके ले जाने में सहायता करने के लिए वह मां से भाई या पिता को उसके पास बसोआ का बुलावा देने को भेजने का अनुरोध करती है। परन्तु भाई के बहुत छोटा होने एवं पिता के वृद्ध होने के कारण मां इन्हें भेजने में विवशता व्यक्त करती है। ऐसी स्थिति में उसके ससुराल में ही किसी के हाथ 'पिंदड़ी' का पकवान पहुंचाया जाता है। सास ने यहां भी अपनी कठोरता दिखाई। उसने पिदड़ियां तो स्वयं खा लीं और जिन पत्तों में पिदड़ियां रखी गयी थीं, वे पत्ते बहू को दे दिये। यह नव वर्ष के उल्लास का त्यौहार है। इस त्योहार के लिए एक ओर मन में मायके जाने का अथाह चाव है और दूसरी ओर सास की यातना है कि मायके न जाने की विवशता आ खड़ी है। ऐसी पीड़ा की अनुभूति से किसका हृदय नहीं पसीजेगा? दुर्भाग्य से जिन बहन-बेटियों के भाई या मां-बाप इस लोक में न रहे हों, उनके हृदय पर भी ऐसे मेले-त्यौहारों में क्या गुजरती होगी? बसोआ का प्रमुख लोक-गीत इन्हीं मर्म-पीड़ा के भावों को अभिव्यक्त करता हुआ बसोआ के अवसर पर चम्बा के गांव-गांव, घर-घर में गाया जाता है—

आया बओआ अम्मा पंजे सत्ते,
मिंजो सावा न आया कोई हो।
आया बसोआ अम्मा पंजे सत्ते,
भाऊआ जो भेजे सदुआरा हो।
भाऊ ता तेरा धीए निक्का याणा,
आप्पु ईणा, आप्पु जाणा हो।
आया बसोआ अम्मा पंजे सत्ते,
बापू जो भेजी सदुआरा हो।
बापू ता तेरा धीए बिरध सियाणा,
आप्पु ईणा, आप्पु जाणा हो।

पिंदड़ी ता भेजी माए, आया बसोआ,
बसोये दा सादा न कोई हो।

पिंदड़ी ता पिंदड़ी माए, आप्पु खाए,
पिंदड़ी दे पट्ठे मिंजो दित्ते हो।
जिन्हां भैणा दे माए, भाई मरे,
सेह रोदियां आंगण दुआरा हो।
जिन्हां धीयां दे मरे अम्मा-बापू,
सेह् रोदियां मेले तिहारा हो।

मन की अथाह गहराई को स्पर्श करती ऋतु-चक्र के लुभावने वातावरण के आगोश में तंरगायित लोक-गीतों की यह स्वर-लहरियां विशु-बसोआ के मेले-त्यौहार का महत्व एवं लोक-मानस के साथ इस त्यौहार के गहन तादात्म्य सम्बन्धों को व्याख्यायित करती हैं। समग्र लोक-मानस इस त्यौहार में बड़े उत्साह एवं चाव से सम्मिलित होता है और यहीं से नयी स्फूर्ति अर्जित करके वर्ष-भर की व्यस्तताओं में लीन हो जाता है। **[जिला भाषा अधिकारी, मण्डी(हि०प्र०)]**

समीक्षा

परिवेश से सीधा सहकार : चिंदी चिंदी सुख

□ डा॰ सुरेश धींगड़ा

'चिंदी-चिंदी सुख' एक परम्परागत रोमांटिक मानसिकता की ओर संकेत करता है, लेकिन, संग्रह की दूसरी कविता 'सिर्फ़ छत' पढ़कर ही उस परम्परा के प्रति आक्रोश का एक तीखा अहसास होने लगता है। अगर इस कविता को भारतीय समाज में नारी की स्थिति का चित्रण कहा जाए, तो ग़लत न होगा। यह बात महत्वपूर्ण नहीं है कि कविता में समाज के उस अंग का चित्रण है, जो संख्या में आधा है और जिसे 'बेहतर आधे' की संज्ञा भी दी गई है। लेकिन जो वास्तव में दलित, पीड़ित और कहीं दब्बू भी है; महत्वपूर्ण यह है कि कविता में परम्परागत आंसू बहाकर सहानुभूति अर्जित करने की कोशिश नहीं है और न उसमें आत्मसहानुभूतिपरक आत्म-प्रवंचना है। महत्वपूर्ण यह भी है कि कविता में कवि की संवेदना का धरातल साफ़-साफ़ दिखाई देता है और यह समाज-शास्त्रीय अध्ययन की भूमि प्रदान करने वाला बिंदु है। इस तरह की कविता अगर कुछ वर्षों पहले प्रकाश में आती, तो शायद परम्परागत आलोचक-वर्ग इसे 'अराजकतावादी' कविता का नमूना मानता, जैसा कि सातवें दशक में उभरी 'बुभुक्षु पीढ़ी' की कविता के साथ हुआ था। काफ़ी हद तक इसे अब भी 'विद्रोही कविता' मान लिया जाए, तो आश्चर्य नही होगा। लेकिन कविता में जो 'खुलेपन' की आकांक्षा है, जो सहज-स्वाभाविक सम्बंधों की वांछा है, जो ठोस मानवीय धरातल पर खड़े होने की ललक है और इनके साथ जो पारिवारिक सम्बंधों के बीच जीते हुए उत्तरदायित्वों को इच्छा-अनिच्छा से स्वीकार करने का भाव है, वह उसे 'संघटक' की भूमिका में ले आता है। इसलिए यह कविता दोहरे स्तर पर जी गई लगती है। पहला स्तर है—समाज का विस्तृत और सार्वदेशिक स्तर और दूसरा है व्यक्तिगत स्तर। पहले और दूसरे स्तर के बीच कवि ने निरंतर संचरण किया है, लेकिन यह संचरण सायास धरातल पर नहीं है, इसलिए यहाँ कोई शैल्पिक चमत्कार का प्रयास भी किया गया नहीं लगता—सिर्फ़ अनुभूति के प्रवाह में जैसा लिखा गया है, वही इस कविता का कलेवर बन गया है।

रेखा की कविताएं उनके पहाड़ी परिवेश· को समूचा उजागर करने वाली कविताएं हैं। पहाड़ों से सीधा साक्षात्कार करने वाले संवेदन के लिए प्रकृति-चित्र अपने-से लगते हैं, हालांकि इनके बिम्ब नये नहीं हैं, लेकिन इनका प्रयोग सार्थक हुआ है। उदाहरण के लिए अगर हम 'बरसात' के चार चित्र लें, तो बात एकदम साफ़ हो सकती है—

'जलपरी-सी नहाती/धरती
अम्बर की उघड़ी आंख देख / शरमाती

हरे तौलिये में लिपट जाती।

× × ×

धुआं-धुआं हो जाते

जंगल पहाड़

× × ×

जंगल में बुखार-सुलगी

लकड़ियां बीनती लड़की/नहीं जानती

कौन था कालिदास

जानती है इतना

इस बरसते दिन

बाबा को नहीं मिलेगा काम

इनकी परिणति सामाजिक सरोकारों में ही होती है।

ऐसी ही कविताएं हैं 'एंटीना', 'संवाद' और 'झील की आंख', जो नष्ट होते प्रकृति-परिवेश के प्रति चिंता की अभिव्यक्ति हैं। ऐसी कविताएं उस चेतना की कविताएं हैं जो पर्यावरण को बचाकर मनुष्य के आस्तित्व कर सकती हैं। निःसन्देह ये कविताएं तीसरे दशक के रोमांटिक प्रकृति प्रेम से एक तीखा अलगाव प्रस्तुत करती हैं।

ज़ाहिर है कि रेखा की कविताएं आम महिला-मानसिकता की जीवन या प्रकृति-रोमांस से भरी कविताएं नहीं हैं, उनमें जीवन धड़कता है, जीवन की विडम्बनाएं झलकती हैं, जीवन की आकांक्षाएं उभरती हैं और उनके साथ छलकती है जीवन की आशा-निराशा। रेखा का कवि मानव के उन पक्षों को लेकर चला है, जो रोज़मर्रा के जीवन में हम महसूस करते हैं। कवि उन्हें ही काव्यमय रंगत देता है। जीवन का यह रंग समय के साथ बदला है। रेखा के कवि ने यह बदलाव महसूस किया है। उसका दंश भी सहा है। लेकिन इस स्थिति ने उसे अतीतजीवी नहीं बनाया है। इसलिए उसकी कविताएं अतीत का मरसिया नहीं बनी हैं। वर्तमान का स्वीकार और भविष्य की आशा का केन्द्र बनी हैं। 'ज़रूरत' 'इंद्रधनुष का मोह', 'धूप', 'आज फिर', 'हरे कोलाज', 'घर', 'आहटें' जैसी तमाम कविताएं ऐसी हैं, जो 'घर' नाम की संस्था के इर्द-गिर्द घूमती हैं और उस बदलाव को चीहन्ती हैं, जो इस संस्था में आया है और जिसने पीड़ाएं घोलीं हैं साधारण मनुष्य के जीवन में। इस 'घर' के प्रति इन कविताओं में एक खास किसिम का मोह भी मिलता है और उसके संस्थागत रूप से मुक्त होने की छटपटाहट की अनुगूंज भी सुनाई देती है। 'घर' कविता की कुछ पंक्तियां देखें—

'यह घूमता हुआ पत्थर का जीना

कुछ धीरे उतरना

यहीं कहीं ऊंघती होगी/उपेक्षिता बड़ी बुआ

वैधव्य की गठरी पर/टिकाए सिर

'अब लांघ कर आओ/यह दालान

यहीं आयेंगी अभी/नहाकर बाल सुखाने/छोटी चाची

निहारा जो कहीं उस ऋतु स्नाता ने

आ घेरेगी अभी यहीं/कोई प्रेतछाया

'सुनो
हुक्के की गुड़गुड़ाहट में
व्यवस्था संचालन के आदेश
यह दरवाजा लांघेगी
केवल बड़ी अम्मा
भीतर से होगी जब स्वामी बुलाहट ।

दूसरी दृष्टि से देखने पर यह आभास भी होता है कि हम पारिवारिक सम्बंधों को लपेटे चल रही एक के बाद दूसरी कविता पढ़ रहे हैं जिनमें नानी, मां, पिता, चाचा, चाची, ताऊ, ताई, भाई, भाभी, बहू, बेटी, जमाई, नातिन, मामा तमाम रिश्ते समा जाते हैं, यह प्रवृत्ति रेखा की कविताओं की सीमा भी बन गई है। सुखद बात यह है कि इन सम्बंधों के रूपों को संदर्भों के तौर पर इस्तेमाल करके रेखा ने उन्हें 'बासी' नहीं रहने दिया है।

इस संदर्भ में इस संग्रह की कविता 'नानी मां' अलग से कुछ शब्दों की मांग करती है। 'नानी मां' महज एक कविता नहीं, वह तवारीख है, वह आइंदा है, वह सभ्यता है, वह संस्कृति है हमारी। 'नानी मां' दास्तान है उस औरत की, जो समूचे आस्तित्व का केन्द्र है, लेकिन सींखचों से जकड़ी हुई है, जो जन्म देकर भी तिल-तिल कर मरने के लिए अभिशप्त है, जो अनेक रूपों में हमारे सामने आती है, लेकिन फिर भी रूढ़ परम्परा बन चुकी है। 'नानी मां' इसीलिए हमारे समाज की सबसे बड़ी त्रासदी है, जिसमें कोई भी औरत स्वयं 'नानी' बन जाने के लिए ही जन्मी है—

'तुम्हारा चेहरा—
दर्पण हो गया है नानी !
जिसमें देखती हूं मैं
अस्सी साल पुराना अपना चेहरा
फिर उस चेहरे में झांकती है
मेरी बिटिया/फिर उसकी बिटिया ।'

यही वह 'परम्परा' है, जो हमारी समाज-व्यवस्था ने हमें दी है।

इन कविताओं में केवल प्रकृति-पर्यावरण को लेकर ही चिंता नहीं है, इनमें मानवीय पर्यावरण के प्रति बढ़ती चिंता की अभिव्यक्ति भी हुई है, 'आहटें' और 'लोकल बस' कविताओं को उदाहरण के रूप में लें तो कवि-सरोकार साफ़ हो जाता है। इनके साथ-साथ 'कितने वर्ष बीते' और 'आइना' जैसी कविताएं दूसरे स्तर पर बदलते मानवी और सामाजिक रिश्तों को स्पर्श करती हैं। ये कविताएं अतिरंजना का शिकार नहीं हैं, वरन मंथर गति से उन रिश्तों को छीलती चलती हैं। रेखा की इन कविताओं की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि ये न भटकाव का शिकार हैं और न शब्द जालों का। यही विशेषता इन कविताओं को भीड़ से अलग करती है। लेकिन रेखा की आने वाली कविताएं ही इस कथन का प्रमाण प्रस्तुत करेंगी कि वे भीड़ से अलग कविताओं की रचना करती हैं या प्रस्तुत संग्रह में प्रयुक्त बिम्बार्थों की पुनरावृत्ति।

'चिंदी चिंदी सुख' (कविता-संग्रह), रेखा, साहित्य-सहकार, ई० 10/4, कृष्णनगर, दिल्ली 51, मूल्य : 25 रुपये

समाज के पतन की गाथा

☐ श्रीनिवास श्रीकांत

प्रताप सहगल की कविताएं जीवनानुभवों से संजोयी गयी सीधी, सरल किन्तु सटीक अभिव्यक्तियां हैं नेताजी पर लिखी गयी इस संकलन की चौथी कविता में देश के गौरवपूर्ण इतिहास में भारतीय नागरिक की लघुता को दर्शाया गया है जो समय बीतने के साथ-साथ अपनी कौम की गरिमा को पूरी तरह भूल चुका है। नेताजी का स्मारक अब उसके लिए कोई महत्व नहीं रखता। पूरी कविता वर्तमान सामाजिक संकट की ओर इशारा करती है कि कैसे राजनीतिक अवसरवादिता के ज़ेरे-असर हमने अपने ज्वलन्त ऐतिहासिक सत्य को झुठला दिया है और अब हसमें बलिदानी पीढ़ियों के प्रति कोई भी आदर्श भाव नहीं रहा है। कवि इस विरोधात्मक स्थिति से समझौता करने में असमर्थ है अतः उसने बड़ी ही गहरी टीस के साथ इस कविता में उक्त स्थिति को व्यक्त किया है।

देशभक्ति राजनीतिज्ञों का व्यवसाय है और बुद्धिजीवी इससे शर्म महसूस करते हैं जैसे कि यह बीते दिनों की बात हो। मगर आज के साम्प्रदायिक वैमनस्य से पीड़ित समाज में इसका महत्व और भी बढ़ गया है। कवि ने इस कविता में ऐसा कुछ न कहते हुए भी ऐसा कुछ कह दिया है जो हमारे ज़माने की एक शर्मनाक बात है। जब नेताजी सुभाष बोस ने 'दिल्ली चलो' का नारा दिया था उस समय इन लफ्जों के अर्थ कुछ और ही थे। इन्हें सुनकर उस समय की पीढ़ी की रगों में खून की एक लहर-सी दौड़ जाया करती थी। आज 'दिल्ली चलो' की बात कितनी खोखली लगती है। आज की पीढ़ी के जिस आदमी में आत्म-सम्मानी और स्वतंत्रता संग्राम में जूझते हुए चिरपरिचित देश की छवि अभी धूमिल नहीं हुई है उसके लिए मौजूदा वस्तु-स्थिति कितनी लज्जाजनक है उसका अन्दाज़ा इन पंक्तियों से सहज ही लगाया जा सकता है—

> **दिल्ली से ही आया हूं / दिल्ली ने ही मुझे सपने दिये**
> **दिल्ली ने ही मेरे सपनों को तोड़ा/दिल्ली ने ही मुझे बड़ा किया**
> **साथ ही गले में लटका दिये/शर्म के मनके**

पिछले सालों में सब कुछ अनचाहा घटा है। हमने स्वतंत्रता सेनानियों की एक सशक्त पीढ़ी को, उनके गौरवपूर्ण इतिहास समेत मिट्टी में गहरे दफना दिया है और उनकी स्मृति में बनाये गये स्मारक महज धर्माचार बनकर रह गये हैं। 'दिल्ली के वारिस', जिनके लिए सुभाष ने इतनी बड़ी जंग छेड़ी थी, 'अब चौहदियों में बन्द हैं' 'छोटे-छोटे सड़े तालाबों में गन्दी मछलियों

की तरह, इस कविता के माध्यम से प्रताप सहगल ने हमारे सुविधा भोगी, राष्ट्रनिरपेक्ष और प्रवंचक समाज के पतन की गाथा कही है। यह कविता वस्तुतः संकलन की रीढ़ है जिसमें हम कवि के जीवन के केन्द्रीय भाव को एक विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ में घनीभूत होता देखते हैं। प्रश्न, जो धोखा हुआ है, उसका नहीं है। सबसे बड़ा सवाल यह है कि हम आने वाली पीढ़ी को इस बारे में क्या सफाई देंगे। जब पूरे का पूरा इतिहास झूठा पड़ गया है तब इन पीढ़ियों के लिए कौन से ऐसे प्रतिमान होंगे जिनके आधार पर आने वाले समाज का—जिसे हम 21वीं सदी का समाज कहते नहीं अघाते—निर्माण होगा।

'आदिम आग' की कविताएं वर्तमान जीवन के हर प्रश्न को उभारती हैं और उसे एक नश्तर के रूप में इस्तेमाल कर उसके हर अंग-प्रत्यंग का विश्लेषण करती हैं। आज की मूल्य-हीनता और नैतिक-उदासीनता लगातार प्रश्नों को जन्म दे रही है। लेकिन इन्हें कौन सुन रहा है। महज कुछेक ऐसे संवेदनशील लोग जिन्हें समाज में कभी कोई मान्यता नहीं मिली। कवि ने इन प्रश्नों के माध्यम से वर्तमान समाज की व्याख्या की है। ऐसे समाज में वह अपने आपको निपट अकेला पाता है। वह आत्मस्थ न होते हुए भी एकाकीपन भोगने के लिए विवश है। 'पिता की मौत पर' कविता में इस वस्तुस्थिति का बड़े ही समष्टिगत भाव से बयान हुआ है—

(क) किसी की मौत की खबर/एक खबर होती है
और पिता की मौत/एक सन्नाटा
(ख) मरता है कोई/झनझनाने लगते हैं/उससे जुड़े स्वार्थ
पिता की मौत/स्वार्थों के जंगल को काटकर
फिर सन्नाटा/क्यों पैदा करती है ?

कवि अपनी आसपास की दुनिया के बारे में बिल्कुल साफ है। वह न इस सम्बन्ध में सन्देहशील है और न अस्पष्ट। उसके कथन में तेज़ी है जो रोजमर्रा की सचाई को चमत्कारिक तरीके से हमारे सामने पेश करती है। यह कवि की सफलता है। कविता करिश्मा नहीं और न हिप्नोटिज्म, फिर भी उसमें लगातार वह गुरुत्वाकर्षण बना रहे—जो कविता की काया, वाचा और वस्तुगतता से पैदा होता है—तो अवश्य ही वह असरदार होगी। प्रताप सहगल की कविता कहीं बिम्बों और प्रतीकों की सुन्दर लड़ियों में खुलती है तो कहीं-कहीं सपाट कथन में, लेकिन हर ढिग अपना प्रयोजन सिद्ध करती चलती है। सपाट होते हुए भी वह अकलात्मक नहीं और बिम्बात्मक होते हुए भी वह दुरुह अथवा अस्पष्ट नहीं होती।

प्रस्तुत संकलन में प्रताप सहगल की छोटी-बड़ी 55 कविताएं संकलित हैं। यहां इनमें से सभी चुनी हुई कविताओं का ज़िक्र सम्भव नहीं क्योंकि ये सब कविताएं विस्तृत समीक्षा और व्याख्या की पात्र हैं। फिर भी इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि सामान्यीकरण करते हुए अथवा किसी भी मॉडल कविता—जैसे 'मोरेंग में नेताजी का स्मारक देखने के बाद'—की समीक्षा करते हुए कवि की मूल प्रवृत्तियों पर पूरा प्रकाश पड़े।

आदिम आग (कविता संग्रह); प्रताप सहगल; प्रकाशक : पराग प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली-32, मूल्य : तीस रुपये।

भारतीय दर्शन : एक अनुशीलन

□ बलवन्त कुमार

प्रत्येक महान् दार्शनिक एक रहस्यमय गाथा का स्रष्टा होता है । उस गाथा के प्रधान पात्र हम और आप ही होते हैं । उसका कथानक हमारे चार प्रमुख प्रश्नों के गिर्द घूमता है । हम कौन हैं ? हम किससे उत्पन्न हुए हैं ? हमारा चरम गंतव्य क्या है ? इस सीमित जीवन का उत्तम उपयोग हम कैसे कर सकते हैं ? श्वेताश्वतरोपनिषद् के आदिम मन्त्र में एकत्रित ब्रह्मवादी इन्हीं मूलभूत समस्याओं को उठाते हैं :—

हरि: ऊँ ब्रह्मवादिनो वदन्ति—
किं कारणं ब्रह्म कुत: स्म जाता
जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठा: ।
अधिष्ठिता: केन सुखेतरेषु
वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥

दार्शनिक हमें अपने आपसे बेहतर परिचित होने में सहायक होते हैं । 'आत्मानं विद्धि' (अपने मूल स्वरूप को जानो)—यही उनकी गवेषणा का प्रधान विषय है । परन्तु कुछ लोग दार्शनिकों से खास परहेज़ करते हैं । वे मन-ही-मन सोचते हैं कि दार्शनिक एक ऐसा व्यक्ति है जो कि एक अंधेरे कमरे में एक काली बिल्ली को ढूंढ़ रहा है जबकि बिल्ली वहां है भी नहीं ।[1]

दर्शनशास्त्र के विषय में ऐसा दृष्टिकोण उचित नहीं । प्रस्तुत कृति, **भारतीय दर्शन : एक अनुशीलन** आचार्य केशव शर्मा द्वारा ऐसी निर्मूल भ्रान्तियों को दूर करने के लिए प्राथमिक जिज्ञासुओं के लिए लिखी गयी है। भारतीय दर्शन की विशिष्ट विधाओं एवं उनके निगूढ़ सिद्धांतों को इसमें बड़ी ही सहज-सुबोध शैली में प्रस्तुत किया गया है । क्लिष्टता एवं पाण्डित्य के अभिनय की वृत्ति कहीं भी लक्षित नहीं होती । वास्तव में यह पुस्तक लेखक के दस शोध-निबन्धों तथा विशिष्ट लेखों का संग्रह है जो समय-समय पर आकाशवाणी से प्रसारित अथवा पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। पुस्तक की प्रस्तावना में अपने उद्देश्य को व्यक्त करते हुए आचार्य केशव लिखते हैं : "परम सत्य को परखने वाली दृष्टि ही भारतीय दर्शन है । यद्यपि इसके द्वारा प्रतिपादित प्रत्येक तत्त्व अत्यन्त मूल्यवान है तथापि इसके कुछ अधिक लोकप्रिय तथा अधिकांश जनों द्वारा जिज्ञासित विषय हैं, जिन पर चिन्तन करना उपयोगी तथा समाज की रुचि को परिमार्जित कर उसे दिशा देने वाला हो सकता है । ऐसे ही दस विषयों का संग्रह प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है ।"